गुजराती ललित निबंध

अंतर्भारतीय पुस्तकमाला

गुजराती ललित निबंध

संपादन

प्रवीण दरजी

अनुवाद

गोपालदास नागर

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

अनुक्रम

भूमिका

गुजराती भाषा के ललित निबंध का ललित-कलामय रूप, लगभग अपने पूरे स्वरूप में पहली बार काकासाहब कालेकर की रचनाओं में दिखाई देता है। लेकिन एक स्वतंत्र विद्या के रूप में सर्वप्रथम गांधीयुग में इसे स्थान दिलाने में किसी न किसी रूप में अनेक निबंधकारों की भागीदारी रही है। इसलिए ललित निबंध के स्वरूप विकास के साथ ऐसे भागीदारों की चर्चा जरूरी है।

गुजराती निबंध का सूत्रपात जागृति-काल में हुआ। यह समय कुछ अंशों में प्रबोध तथा प्रकाश की शुरुआत का था। परलोक के बदले लोग इहलोक की बात करने लगे थे। पढ़ने की भूख जागी थी। पुस्तकालय खुलते जाते थे। यों कहें कि सर्वक्षेत्रीय परिवर्तन की हवा का बहना शुरू हुआ था। लेखकों के लिए धर्म, नीति, देशोद्धार, महिला-शिक्षा जैसे अनेक नए विषय चुनौती बनकर खड़े थे। पश्चिम के संस्कार की नई हवा और ढाई-तीन सौ वर्ष के अंग्रेजी साहित्य ने इन लेखकों को तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इस तरह निबंध को जन्म देने वाली शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ।

इस बीच सबसे अधिक सराहनीय प्रयत्न कवि नर्मद ने किया। 'स्टील' तथा 'एडीसन' के, 'स्पेक्टेटर' तथा 'टेटलर' के निबंधों से आकर्षित नर्मद को गुजराती में ऐसे ही निबंध लिखने थे। 'निबंध लिखना जैसी-तैसी बात नहीं है'—यह कहकर उस स्वरूप के प्रति संप्रज्ञता और लगाव को तो उन्होंने जीवित रखा ही, साथ-साथ 'स्वदेशाभिमान', 'संप', 'सूरतनी चड़ती-पड़ती', 'शेरना कागलनां कनकवा' जैसी रचनाएं देकर उन्होंने अपने निबंध-दर्शन को भी चरितार्थ कर दिखाया। हृदयग्राही रूपक, वक्तृत्व की छटा, क्वचित प्रश्नालंकार, कहीं रोचक रूपक, तो कहीं व्यंग्यादि—से उनके गद्य की अपूर्व शोभा बढ़ती है। इन रचनाओं में निबंध के स्वरूप के अनुकूल आत्मलक्षी प्रभाव था। गद्य पर उनका प्रभाव खास रूप से पढ़ा जा सकेगा। उनकी रचनाएं उद्देश्य-प्रेरित थीं। यह सच है कि जमाने के प्रश्नों के प्रति वे प्रतिबद्ध थे, लेकिन ललित निबंध के आज के स्वरूप की कितनी ही रेखाएं पहली बार उनकी रचनाओं में देखने को मिलीं। इस तरह निबंध के सृजन और विकास को उन्होंने ही दिशा दी।

इस युग में नवलराम की 'ओथारियो हडकवा' शीर्षक रचना है। उनका सुगढ़ और मनोरम गद्य, निबंध के लिए अनुकूल भी था। फिर भी उनका प्रधान लक्ष्य समीक्षा होने के कारण नर्मद द्वारा निर्देशित दिशा की तरफ उनका ध्यान नहीं के बराबर रहा है। इनके सिवा अन्य लेखक केवल उद्देश्यलक्षी रहे हैं। निबंध के विषय में उनका लक्ष्य लगभग स्कूली निबंध जैसा ही रहा है। इसलिए नर्मद की रचनाओं में मिलते ललित निबंध के संकेतों को फिर किसी के हाथों अधिक गंभीर रूप नहीं मिला।

नेहरू युग में ज्ञानोपासना बढ़ी, शिक्षा का प्रसार हुआ। मुद्रण की सुविधा बढ़ने पर अनेक पत्र-पत्रिकाएं अस्तित्व में आईं। अंग्रेजी भाषा-साहित्य के साथ-साथ अरबी-फारसी और संस्कृत का अध्ययन बढ़ा। मुंबई, मद्रास तथा कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। धार्मिक, राजकीय, सामाजिक, सांस्कृतिक विषयों को नई दृष्टि से देखा जाने लगा। बड़ी गंभीरता से जीवन पर विचार होने लगा। सादे और सरल गद्य के स्थान पर अलंकार-विभूषित तथा विद्वतापूर्ण गद्य की महिमा बढ़ी। इससे गुजराती निबंध के लिए अनेक नए अवसर उत्पन्न हुए। सांस्कृतिक-साहित्यक परिस्थिति में आए इस मोड़ के कारण अनेक विषयों पर लेखन हुआ। विद्वतापूर्ण भाषा-शैली में बहुत कुछ लिखा गया। लेकिन मुख्य रूप से सबका ध्यान गंभीर लेखन की तरफ ही रहा। फलस्वरूप, निबंध इस युग के लेखकों के द्वारा गंभीर विचारों का वाहक बन गया। उसका ललित, मधुर रूप तो खास-खास लेखकों में और वह भी खास मात्रा में ही मिलता है।

मनसुखराम त्रिपाठी के संस्कृतनिष्ठ भाषा-शैली में लिखे निबंध विचारतत्व से भरे हैं। मणिलाल न. द्विवेदी ने भी 'प्रियंवदा' तथा 'सुदर्शन' के संपादक पद पर रहकर धर्म, समाज, राजनीति, संस्कृति, शिक्षा, साहित्य आदि पर परिमित, चिंतनपूर्ण तथा तेजस्वी वाक्छटा वाले गद्य में उच्चश्रेणी की विचार-सामग्री वाले निबंध लिखे। गंभीर मनोवृत्ति वाले नरसिंह राव को भी इस पंक्ति में ही रखा जा सकता है। उनके 'विवर्तलीला' संग्रह की चर्चा होनी चाहिए। ललित निबंध में सर्जक के व्यक्तित्व का प्रवेश एक महत्व का लक्षण बना रहता है। 'विवर्तलीला' संग्रह की रचनाओं में व्यक्तित्व का ऐसा ही स्पर्श है। बुद्धि की अपेक्षा हृदय से विशेष—हृदयमति से खिंचकर उनके निबंध लिखे गए हैं। बातचीत की ऊष्मा भी उनके गद्य में है। लेकिन नरसिंहराव के द्वारा फिर इस स्वरूप को एकाग्र भाव से उभारा नहीं गया। अर्थात ललित निबंध की गतिविधि की पूर्वकथा में 'विवर्तलीला' का महत्व तो बना ही रहता है। इस बीच गंभीर रूप से विकसित होते जाते गुजराती निबंध में रमणभाई नीलकंठ और विद्यागौरी नीलकंठ ने अपवाद रूप से अपने संग्रह 'हास्य-मंदिर' में विनोद का एक स्वस्थ रूप लाए। लेकिन उनकी रचनाओं का अनुसंधान गंभीर निबंधों के साथ है, ललित निबंधों के साथ नहीं।

गंभीर निबंधों का सिलसिला मणिलाल के बाद समर्थ निबंधकार आनंदशंकर बा. ध्रुव में देखने को मिलता है। केवल निबंध द्वारा ही अपने अंतर को व्यक्त करने वाले

आनंदशंकर ने धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा विषयक और साहित्य को स्पर्श करते अनेक निबंध लिखे। 'आपणों धर्म' उनके धर्म विषयक विचारों का संग्रह है। 'दिव्य प्रभात' या 'प्रेमघटा' जैसे बातचीत शैली वाले निबंधों में उनका भाव-विभोर व्यक्तित्व अच्छी तरह उभरा है। नरसिंहराव के संग्रह 'विवर्तलीला' की विशेषता आनंदशंकर के इन बातचीत या व्याख्यान शैली के निबंधों में भी खास रूप से देखा जाता है। निर्मल व्यक्तित्व को प्रकट करती उनकी ऐसी कितनी ही प्रासादिक रचनाएं ललित निबंध की दिशा में विकसित होती लगीं। उनके बाद उत्तमलाल त्रिवेदी तथा ब. क. ठाकोर से लेकर श्रीमत् रामचन्द्र तक के अनेक गद्यकारों के भिन्न-भिन्न विषयों पर भिन्न-भिन्न शैलीवाले निबंध मिलते हैं। लेकिन बहुत कुछ उन सबका संधान एक या दूसरे प्रकार के विचारतत्व के साथ ही रहा है।

इन सबमें अतिसुखशंकर क. त्रिवेदी ऐसे निबंधकार हुए जो नेहरू युग और गांधी युग के संधिकाल में खास महत्व रखते थे। नेहरू युग के गंभीर निबंध को रुचिकर, सरल तथा कलात्मक बनाने में इनका विशेष योगदान है। इनकी कितनी ही गीति-काव्य सदृश रचनाओं में ललित निबंध की खास लय-ललक देखी जा सकती है।

नेहरू युग में इस तरह निबंध विपुलता तथा विविधता से विकसित हुए। नूतन गद्य शैली का भी प्रवेश हुआ। फिर भी मुख्य रूप में वह गंभीर विचारों को व्यक्त करने के लिए एक साधन बना। कुछ निबंधकारों की किसी-किसी रचना में ललित निबंध की स्फूर्ति का संकेत मिलता है, लेकिन उनमें से किसी ने शुद्ध कलात्मक रूप में ललित निबंध को स्वीकार किया हो या उस प्रकार की परंपरा वाली शुद्ध रचनाएं देने का रुख दिखाया हो, ऐसी बात नहीं। दूसरी तरह से कहें तो जहां नेहरू युग खत्म हुआ, वहां तक हमें हमारा 'लंब' (पर्पेंडिक्युलर) या 'लिंड' नहीं मिलता। इस तरह देखें तो गुजराती साहित्य में पांडित्य के प्रभावतले विकसित अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में ललित निबंध को एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकृति तथा कलापूर्ण रचनाओं का सृजन आने वाले समय की घटना है।

गांधी युग में लिखे निबंध के विकास के लिए एक नया वातावरण बनते दिखने लगा। पिछले सौ वर्षों से अवरुद्ध अनेक क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों तथा आंदोलनों के कारण संपूर्ण भारत तथा विश्व भी गांधी युग से गुजरता दिखता है। दक्षिण अफ्रीका से लौटे गांधी जी, स्वाधीनता की भूखी जनता के लिए मसीहा हुए। उन्होंने अहमदाबाद में 'साबरमती आश्रम' की स्थापना कर शिक्षा, जनकल्याण तथा स्वाधीनता की प्रवृत्ति को तेज किया। इस युगप्रवर्तक घटना का अन्य क्षेत्रों के साथ-साथ साहित्य पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। 'हरिजनबंधु' और 'नवजीवन' पत्रों द्वारा लेखन प्रवृत्ति की शुरुआत कर गांधीजी ने अनेक विषयों पर कलम चलाई। अहमदाबाद में ही उन्होंने 'गुजरात विद्यापीठ' की स्थापना की। गांधीजी के विचारों से रंगकर इस बीच विद्यापीठ से अनेक

स्नातक, समाजसेवक तथा लेखक बाहर निकलने लगे। 'एक मोटर चलाने वाला भी समझ सकें, ऐसी भाषा का लेखकों को उपयोग करना चाहिए।' गांधीजी की इस बात का हमारे लेखकों पर भारी असर हुआ। इस तरह संस्कृतनिष्ठ तथा अलंकारमंडित शैली की जगह पहली बार सरल और ध्येयलक्षी शैली प्रचार में आई। गांधीजी की वजह से शिक्षितों तथा लेखकों का ध्यान दरिद्र जनता की तरफ गया। जीवन के प्रति उनका दृष्टिबिंदु सत्यदर्शी बना। ग्राम-जीवन तथा गांव, साहित्य-सृजन के विषय बनने लगे। गांधी के आस-पास एक छोटा लेखक-समूह तैयार हो गया। विविध प्रश्नों तथा विषयों को अभिव्यक्त करने के लिए अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएं शुरू हुईं।

अब तक लिखे जाते गुजराती निबंधों को अनेक विषयों से जोड़ने का श्रेय यदि किसी को दिया जाए तो वे गांधी होंगे। यहां चिंतन है, लेकिन उसकी बारीकी नहीं है। स्वतंत्रता, धर्म, नीति, आरोग्य, शिक्षा आदि अनेक विषयों पर गांधीजी ने प्रहारात्मक लेकिन सरल भाषा-शैली में लिखा है। चाहे जिस विषय की रचना हो, उन्होंने अपने अनुकूल, सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व से महका दिया है। उनके व्यक्तित्व जैसा ही स्वच्छ, पारदर्शक गद्य ने उनके निबंधों को आकर्षक बनाया है। अपने को कभी साहित्यकार होने का दावा न करने वाले गांधीजी की 'हृदयनी ज्वाला' या 'परीक्षा' जैसी रचनाएं उनकी कलम की ताकत का अंदाजा देती हैं।

लेकिन काकासाहब कालेलकर की रचनाओं में ललित निबंध का शुद्ध रूप पहली बार ठीक तरह से निखरता दिखा। ललित निबंध के स्वरूप के बारे में उनकी सही और ठोस जानकारी तथा उस स्वरूप के अनुकूल उनकी सृजन-प्रतिभा के कारण उन्होंने उत्तम ललित निबंध लिखे। शुद्ध सृजन हेतु प्रेरित होकर लिखी गई उनकी आनंददायी रचनाओं से ललित निबंध के स्वरूप में भरपूर निखार आया। ललित निबंध का एक स्वनिर्भर साहित्यिक स्वरूप काकासाहब कालेलकर द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। अनुगामी रचनाओं के लिए उनकी रचनाएं एक आदर्श बन गईं। पूर्व के संस्कार—संस्कृति के अनेक संदर्भों की निकटता, सौंदर्यदर्शी रूप, शिशु-सहज विस्मय, अभिजात विनोद और रसिक मधुर उपमायुक्त गद्य ने उनके निबंधों को अनोखी रसवत्ता प्रदान किया। शुद्ध कल्पनाप्राणित उच्चकोटि के निबंध विपुल मात्रा में पहली बार उन्होंने ही लिखे। 'रखड़वानो आनंद', 'जीवननो आनंद', 'जीवनलीला', 'ओतराती दीवालो' आदि संग्रहों में कल्पनाजन्य आनंद प्रदान करने वाली उच्चकोटि की ललित रचनाएं हैं। उनके यात्राविषयक संग्रहों में भी ललित निबंध का आकार देखने को मिलता है। 'लुच्चो वरसाद', 'सखी-मार्कंडी', 'मध्याह्ननुं काव्य' या 'संध्यारस' जैसे अनेक काव्यमय ललित निबंध मात्र उनके ही नहीं, हमारी भाषा के भी उत्तम ललित निबंध हैं। निबंध को सृजन की कोटि में रख सकें, ऐसी नमूनेदार और रसमय रचनाएं देनेवाले काकासाहब हमारी भाषा के सही अर्थ में पहले उत्तम ललित निबंधकार हैं। सबसे अग्रणी हैं।

गांधीजी के सान्निध्य में रहकर लिखनेवाले किशोरलाल मशरूवाला, पंडित सुखलालजी आदि में स्वामी आनंद ने अपने विशेष व्यक्तित्व तथा भाषा-शैली से एक अलग पहचान बनाई। 'अनंतकाल', 'मानवतानां वेरी', 'नवलांदर्शन', 'घरतीनुं लूण' आदि संग्रहों में विविध विषयों पर उनके निबंध हैं। लेकिन इन निबंधों में मौजूद स्वामी का व्यक्तितत्व और विविध भाषा-भंगिमाओं वाले रंग-बिरंगे स्वरूप का उत्तेजक, वेगवान तथा उर्मिप्लावित गद्य उनकी कितनी ही रचनाओं को उत्तम ललित निबंधों का दर्जा देता है। 'माछीनाच' (मछुआरा नृत्य) इसका अप्रतिम उदाहरण है। 'माछीनाच' में शैशव के तादृश स्मरणों का समावेश करना उस रचना को नया रूप देता है। ललित निबंधकार भाषा को अपनी तरह से विकसित करने में किस तरह सहयोग दे सकता है, यह जानने के लिए स्वामी आनंद की ऐसी रचनाएं देखनी चाहिए।

इस काल में कई निबंधकारों ने रोचक गद्य में अनेक विषयों पर निबंध लिखे। मुंशी कन्हैयालाल माणिकलाल, लीलावती मुंशी तथा विजयराय—इन तीनों में से भी किसी ने काकासाहब द्वारा लगाई ललित निबंध के स्वरूप की बेल आगे नहीं बढ़ाई। उनका लक्ष्य भिन्न था, इसलिए अन्य स्वरूपों में उनकी गति विशेष रही।

ललित निबंध के स्वरूप संदर्भ से सहज भिन्न रूप में रामनारायण पाठक को याद करना जरूरी है। 'स्वैरविहार' के उपनाम से निबंध लिखनेवाले इस निबंधकार का झुकाव स्वाभाविक रूप से ही ललित निबंध के अनेक लक्षणों में से 'स्वैरविहार' की तरफ दिखता है। इन्होंने ललित निबंध को अपनी तरह से आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। जहां व्यंग्य या हास्य की तरफ वे प्रमाण के अनुसार झुकते हैं, वहां सुंदर परिणाम उपज आते हैं। 'फोटोग्राफ पाडवा विशे' संग्रह इसका अच्छा उदाहरण है। ललित निबंध स्वयं विहरता है—यह सत्य उनकी इस रचना में तथा दूसरी कितनी ही रचनाओं में स्वतः सिद्ध होता है।

धूमकेतु, र.व.देसाई, मेघाणी, नवलराम त्रिवेदी, जयंतीलाल दलाल आदि निबंधकारों में व्यंग्य-प्रधान रचनाओं का सिलसिला बढ़ता हुआ मालूम देता है। इस बीच रतिलाल त्रिवेदी की 'एक उषाकालनी समृद्धि' या अंबालाल पुराणी की 'गगनविहारी' तथा 'वसुंधरा' जैसे निबंध की रचना की और ललित निबंध के तार की थरथराहट जारी रखी। प्रभुलाल गांधी और किशनसिंह चावड़ा जैसे लेखकों का झुकाव चरित्रात्मक रचनाओं की तरफ अधिक रहा है।

काकासाहब के बाद ललित निबंध को शुद्ध रूप में विकसित करने का झुकाव कुछ अंशों में विनोदिनी नीलकंठ में देखने में आता है। स्वस्थ गद्य में, कल्पना के हल्के-फुल्के रंगों के द्वारा निजत्व को प्रकट करते-करते उन्होंने आनंददायक रचनाओं का सृजन किया। 'रसद्वार', 'आरसीनां भीतरमां' तथा 'निजानंद' जैसे संग्रहों की कितनी ही रचनाएं रसप्रद बनी हैं।

काकासाहब कालेलकर से अलग हटकर, ललित निबंध का एक नया रूप उमाशंकर जोशी के यहां है। ललित निबंध के क्षेत्र में इनकी देन महत्वपूर्ण मानी जाती है। इनका संग्रह 'गोष्ठी' इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किसी भी विषय को व्यक्तित्व से भीगोकर, बातचीत की ऊष्मा प्रकट करते गद्य में सरलता से रचना करना इनकी विशेषता रही है। निबंध, दो आत्माओं के बीच की गोष्ठी है, यह उमाशंकर जोशी की रचनाएं पढ़ने से पता चलता है। उनकी कमजोर रचना भी ध्यान खींचती हैं। 'मित्रतानी कला', 'पड़ोशीओ' तथा 'वार्तालाप' जैसी उनकी रचनाएं इतनी संपन्न लगती हैं कि ललित निबंध के हमारे विभाव को अधिक स्पष्ट कर दे। काकासाहब सौंदर्यविहार द्वारा स्वयं को दर्शाकर निबंध रचते रहे तो उमाशंकर वार्ताविहार द्वारा स्वयं को व्यक्त करना छोड़कर निबंध की रचना करते रहे।

सुंदरम ने अपने संग्रह 'दक्षिणायन' के यात्रा-निबंधों में निबंध के ललित रूप को सामने लाया। उनका अनुसंधान काकासाहब के अधिक निकट लगता है। 'चिदम्बरा' की 'एक मीठुं प्रकरण', 'चालता आवड़े छे के?' या 'मद्रासनी जलचरी' जैसी रचनाओं में वे भिन्न तरह से निबंध रचना करते दिखते हैं। यहां उनकी शैली 'दक्षिणायन' से अलग हटकर विनोदी, बातचीतवाली दिखती है। ललित निबंध की रचना करने का उनका सामर्थ्य इस तरह के निबंधों में सरस रूप में सामने आता है। उमाशंकर और सुंदरम—दोनों ने अपनी-अपनी तरह से गुजराती ललित निबंधों को समृद्ध किया।

इस बीच गद्य को एक या दूसरी तरह से विकसित करने वाले अनेक लेखक मिलते हैं। कुछ चिंतन-मनन को व्यक्त करने के लिए, कुछ ने मानव-जीवन की पीड़ाओं-कमजोरियों को लक्ष्य कर तो कुछ ने समीक्षा को आधार बनाकर अनुकूल तात्विक हास्य-प्रधान या समीक्षात्मक निबंध लिखे। ऐसे निबंधों में बहुत बार गद्य की रमणीयता प्रकट होती रही है और रसलक्षी रूप भी दिखता रहा है। फिर भी, प्रत्यक्ष रूप में उनका संबंध ललित निबंधों के साथ जोड़ सकें, ऐसा नहीं। ज्योतींद्र दवे जैसे सर्वसंपन्न निबंधकार का उद्देश्य भी मुख्य रूप से हास्य उत्पन्न करना और उस आधार पर मनुष्य-जीवन की कोई न्यूनता या विकृति को प्रकट करना रहा है। ऐसी कृति संपूर्ण रूप से हास्य निबंध ही है, ललित निबंध नहीं।

पिछले तीन दशक गुजराती साहित्य के लिए ललित निबंध के रहे हैं, यह कहा जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। इन वर्षों में निबंध का एक ललित स्वरूप, ताजगीभरा रूप उभरता दिखाई देता है। इस बीच सांस्कृतिक-साहित्यक परिस्थितियों में एक नया मोड़ आया है। विज्ञान द्वारा भौतिक सुख-सुविधाओं में अकल्पित विकास हुआ है, तो उससे मानसिक शांति को नुकसान भी हुआ है। दो विश्व युद्धों के बाद तथा यांत्रिक संस्कृति के दुसह अनुभवों के बाद एक प्रकार की व्यापक निराशा दिखती है। नए साहित्यकारों का एक वर्ग इस निराशा को कलामय अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता लगता है। साथ

ही, अंतर्राष्ट्रीय साहित्य का परिचय भी गहरा हुआ है। बदली हुई स्थिति में ईश्वर, धर्म, नीति विषयक विचारों में भी खासा परिवर्तन आया है। कहानी-उपन्यास में आधुनिक संवेदना को रूपबद्ध करने का प्रयत्न तो डा. सुरेश जोशी ने किया ही, साथ ही साथ सातवें दशक के बीच (1965) ललित निबंध के क्षेत्र में भी यह एक नया चेहरा 'जनान्तिके' संग्रह के साथ उपस्थित हुआ। इस संग्रह के बाद लगातार उनके 'अहोबत् किम् आश्चर्यम्', 'ईदम् सर्वम्', 'रम्याणि वीक्ष्य', 'प्रथम पुरुष एक वचन' तथा 'भावयामि' जैसे संग्रह-संपादन आते रहे। इतना ही नहीं, कविता, कहानी उपन्यास के मुकाबले उनकी पहचान निबंध के जरिए करानी पड़े, वैसी सक्रिय सर्जकता उन्होंने ललित निबंध के स्वरूप में दिखाई। 'जनान्तिके' की प्रस्तावना में उनका 'जनान्तिक उच्चारण' जैसा शब्द-प्रयोग निबंध के नए चेहरे को अच्छी तरह स्पष्ट कर देता है। घनी आत्मीयता से द्रवित शुद्ध आबोहवा तथा कल्पना- प्रधान गद्य में सृजित सुरेश जोशी की रचनाएं सम्यक अर्थ में जनान्तिक स्वरूप की बनती हैं। युद्धोत्तर विश्व का मानव, उसके अस्तित्व की छिन्नता, यंत्र-संस्कृति की संकीर्णता तथा शहरी जीवन की कमनसीबी—यह संपूर्ण परिवेश तथा कालिदास, भवभूति, नित्शे, बेकेट, बॉदलेर, रेम्बो, रिल्के की शब्द-सृष्टि—ये दोनों नमूने उनके उस जनान्तिक उच्चारण में मिलकर उसे विशिष्ट विस्तार भी देते हैं। पुष्प, वृक्ष, हवा, शैशव तथा उनकी साहित्य के प्रति रुचि-दृष्टि, यह सब भी उनमें मिलता है। ललित निबंध कैसा हो, इसका संतोषप्रद अनुभव गुजराती पाठकों को उनकी कई रचनाएं कराती हैं। 'गंध : अभिज्ञाननी मुद्रिका' जैसी रचनाएं तथा इस निबंधकार की 'टागोरवेहा' कितनी सफल और चर्चित हुई हैं, इसका मनोरम उदाहरण हैं।

उत्तरोत्तर उनकी रचनाओं में पुनरावर्तन दिखता है। पसंद आ गई पद्धतियों की अधिकता या अपनी ही प्रदक्षिणा जैसा लगता है। इसके बावजूद उन्होंने जिस विपुलता से और वैविध्य से इस स्वरूप का विस्तार किया है, वह हकीकत स्वयं ऐतिहासिक महत्व की है। अपनी अनेक श्रेष्ठ रचनाओं द्वारा उन्होंने ललित निबंध के कलामय दरजे को अपूर्व तरह से दृढ़ता दी है।

सातवें दशक के अंतिम वर्ष में दिगीश मेहता के संग्रह 'दूर नां ओ सुर' द्वारा ललित निबंध के क्षेत्र में सुरेश की अपेक्षा एक भिन्न रूप में, नई मुद्रा उभरी। दिगीश में दिखता 'मैं' लाक्षणिक है। सुरेश की पुष्प-वृक्ष-पवन की सृष्टि अथवा वहां की काव्यमयता यहां भाग्य से ही मिलेगी। दिगीश के 'मैं' में कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता का अवलंबन अधिक है। संस्मरणों या स्मृतिसाहचर्यो के आधार पर उन्होंने 'मैं' का विस्तार किया है। यहां दिगीश के अंतर में सतह की असलियत आस्वाद का कारण बनती है। अंग्रेजी वाक्य मरोड़ का स्मरण कराने वाली सरल और बातचीत की शैलीवाले शब्दों से दीप्त वाक्यवलि के द्वारा वह निबंध की रचना करते हैं। उनकी भाषा में चित्रांकन की शक्ति

ध्यान खींचने जितनी मात्रा में है। 'दूर नां अे सुर' जैसी रचनाएं उनकी लाक्षणिक सर्जकता का अच्छा परिणाम देती हैं।

निबंध के क्षेत्र में अपनी तरह से प्रस्थान करने वाले सुरेश और दिगीश की प्रवृत्ति इस तरह अधिक लगाववाली साबित होती दिखती है। अनुगामियों के लिए दोनों के द्वारा एक सबल भूमिका रची जाती है।

आठवें दशक में अग्रस्थान पर पहुंचे निबंधकारों में मुख्य हैं भोलाभाई पटेल तथा चंद्रकांत शेठ। इनकी रचनाएं ललित निबंध को एक कदम आगे ले जाती हैं। दोनों ने अलग तरह से गति देकर निबंध को विशिष्ट रूप से विकसित किया है। भोलाभाई का 'मैं' भरापूरा है। 'विदिशा' संग्रह की रचनाओं में और फिर कुछ अंशों में 'पूर्वोत्तर', 'कांचनजंघा', 'राधे तारा डुंगरिया पर', 'देवों की घाटी', 'देवात्मा हिमाचल' संग्रहों में विष्णुसहस्रनाम की तरह वह अपने अनेक रूपों में व्यक्त होता रहा है। उनकी रचना बहुत कुछ यात्रा का अवलंबन लेकर आगे बढ़ती है। लेकिन यह तो मात्र एक निमित्त है। सच तो यह है कि इस विषय में वे कदम-कदम पर सौंदर्य-भ्रमण करते-कराते हैं। अपने 'अंगत' को ही, अंदर की संपत्ति को ही सोलह कलाओं से वे विकसित करते हैं। तभी तो मांडु या विदिशा की बात करते-करते रूपमती-बाजबहादुर की प्रणयकथा या महाराज शूद्रक या अग्निमित्र की सवारी अथवा कालिदास-मेघदूत के संदर्भ उनसे बाहर निकल पड़ते हैं। अनेक सर्जकों, मनीषियों की सृष्टि के रसांश उनकी रचनाओं में खिंचे चले आते हैं। यात्रानुभव को सौंदर्यानुभव में बदल डालने में उनकी सर्जकता का विशेष योग रहा है। 'तेषां दिक्षु' जैसी रचना में, घर और घर के बाहर की सृष्टि के विरोध में से तीव्र देशप्रेम फूट पड़ता है। उनका गद्य सुकुमार तथा मनोहर है। सौंदर्य के अनेक रस-रहस्यों को आसानी से आलोकित कर दे, ऐसी उसमें शक्ति है। आधुनिक गुजराती निबंधों की चर्चा करने पर उनकी रचनाओं का खास ध्यान रखना पड़ता है।

रूढ़ि से हटकर निबंध को विकसित करने का साहस 'नंद सामवेदी' संग्रह में चंद्रकांत शेठ ने किया है। इस साहस में सर्जक कुछ अंशों में सफल भी रहे हैं। इन रचनाओं का विषय सर्व-परिचित प्रकृति या प्रवास आदि नहीं, बल्कि मनुष्य के व्यक्तित्व का 'अदर सेल्फ' है। इसलिए यहां आकर 'मैं' का रूप भी अभिप्रेत 'मैं' से कुछ अलग तथा असामान्य बन जाता है। यह 'मैं' आत्मदया का या उपहासकेंद्री नहीं है। स्वयं को संबोधित कर आड़े-तिरछे आता है। 'नंद' के मोहरे की आड़ में अनेक प्रपंच भी रचे जाते हैं, फिर भी उनका लक्ष्य ऐसी किसी ऊपरी सतह से विहरना नहीं। वास्तव में तो स्व के निमित्त मनुष्य मात्र का व्यावहारिक रूप स्पष्ट करना और उसकी आंतरिक छिन्नता तथा वेदना को बाहर निकालना उनका प्रयत्न रहा है। 'भाईराम' जैसी रचना इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

आधुनिक जीवन संवेदन को निबंध द्वारा कलामय तरीके से प्रकट करने का जोरदार प्रयास शायद चंद्रकांत शेठ की रचनाओं में प्रहली बार हुआ है। निबंध के रूढ़ विचार से

हटकर यहां निबंध सफल हुआ है। इस प्रकार गुजराती ललित निबंध का एक नया स्वरूप सामने आता दिखता है। भाषा को सरल रखकर वक्रता के तत्व से अंतस्थ संवेदन को तथा उसके धारक 'मैं' को प्रकट करती निबंध शैली भी ध्यान देने योग्य बनी है।

ललित निबंध को अनेक तरह से संवारने का काम इनके सिवा अन्य गद्यकारों ने भी किया है। 'शियालानी सवार नो तड़को' संग्रह में वाडीलाल डगली की कितनी ही श्रेष्ठ रचनाएं हैं। इनकी विशेषता यह है कि ये तथ्य तथा तर्क को साथ रखकर लेखन करते हैं, फिर भी उस रचना को उनका स्फूर्तियुक्त गद्य जल्दी टूटने नहीं देता। विचार विहार बनता है। ऐसा विहार 'शियालानी सवार नो तड़को' शीर्षक रचना में अच्छी तरह हुआ है।

'शब्दातीत' शीर्षक संग्रह में भगवतीकुमार शर्मा के प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं। चंद्रकांत शेठ की तरह वे भी कई बार विषाद को केंद्र में रखकर रचना का विस्तार करते हैं। अलबत्ता, यहां कौशल भिन्न है। बचपन, उनका स्मृति साहचर्य तथा विषयानुरूप अध्याय उनकी रचना में सहज रूप से आते और आकार धारण करते हैं। कभी कभी वे रचना को नम्रता का पुट भी देते हैं। आठवें दशक में निबंध को भरपूर प्रतिष्ठा दिलानेवाले इस निबंधकार की 'नदी-विच्छेद' जैसी कितनी ही रचनाएं स्मरणीय हैं।

पिछले कुछ वर्षों में ललित निबंध के क्षेत्र में थोक रचनाओं का ज्वार आया। इसके पीछे एक प्रत्यक्ष कारण पत्रकारिता है। कितने ही निबंधकारों ने व्यक्तित्व के मोहक अंशों को व्यक्त करती, मधुर गद्य छटा बिखेरती रचनाएं बीच-बीच में दी हैं। सुरेश दलाल, गुणवंत शाह, हरींद्र दवे, ज्योतिष जानी, विष्णु पंड्या, अनिल जोशी, जयंत पाठक आदि के नाम इस संदर्भ में तुरंत याद आते हैं। सुरेश दलाल और गुणवंत शाह की रचनाओं में विषयों की अंतहीन विविधता है। दोनों में कल्पना तत्व भी ठीक-ठीक मात्रा में है। दोनों अपनी रचनाओं में उदाहरण तथा काव्यपंक्तियों का भी काफी प्रयोग करते हैं। दोनों की रचनाएं ललित निबंध के छोर तक पहुंच जाती हैं। सौदर्य का नशा भी उनकी रचनाओं में बहुत बार अनुभव होता है। फिर भी, जिसे शुद्ध ललित निबंध कहा जा सके, ऐसी रचनाओं की संख्या कम है। गुणवंत शाह के 'विचारोनां वृन्दावनमां', 'साइलेन्स जोन', 'बत्रीशे कोठे दीवा', 'पूछता नर पंडित', 'झांकल भीना पारिजात', 'कार्डियोग्राम', 'वगडा ने तरस टूहकानी' आदि अनेक संग्रहों में गद्य की रसिकता ध्यान आकर्षित करती है। 'वृक्षनी मातृभाषा मौन' शीर्षक से प्रकाशित इस संग्रह में संकलित ललित निबंध उनकी इस तरह की निबंध रचना का द्योतक है। सुरेश दलाल के 'मारी बारीओ थी', 'साव अकेलो दरियो', 'मारो आसपासनो रस्तो', 'पगलांथी पंथ एक फूट्यो', 'समी सांज ना शामियाणा मां', 'मोजा ने चींघवा सहेला नथी' जैसे अनेक संग्रह निरूपण की कोई न कोई विशेषता के कारण आकर्षित करते हैं। अलबत्ता, हर बार निबंध का तत्व उनके सर्वांग के साथ नहीं के बराबर प्रकट हुआ है। 'मुंबई अेटले मुंबई अेटले

मुंबई' जैसे संग्रह में निबंधकार महानगर मुंबई को कैसी-कैसी नजरों से देखता है, दृष्टि में कैद करता है और फिर प्रतिक्रिया प्रकट करता है, उसका रसोद्दीपक प्रतिबिंब दिखता है। 'नीरव संवाद' में हरींद्र दवे अधिकतर विचारों के साथ रचना पूरी करते हैं। फिर भी, 'वसंत मननी अवस्था' संग्रह की तरह उनके द्वारा श्रेष्ठ निबंध सृजित हुए हैं। ज्योतींद्र के निबंध पत्रकारिता की ही देन हैं। फिर भी, अपने संग्रह 'स्वरविहार' में अधिक रमणीयता उभारने की तरफ उनका झुकाव दिखता है। 'शब्दनां लैंडस्केप' संग्रह में 'मारी डायरी मां उगेली एक सवार' जैसी एकाध रचना हृदयग्राही बन गई है। 'हथेलीनुं आकाश' तथा 'शाहमृग अने देवहुमां' जैसे संग्रह की अपेक्षा विष्णु पंड्या में निश्चित विचार-पद्धति की प्रतिबद्धता दिखाई देती है। फिर भी, 'अनुरागनी लिपि' जैसी कृतियों में वे अच्छा परिणाम ला सके हैं। 'पवननी व्यासपीठे' तथा 'स्टेच्यू' के लेखक अनिल जोशी की रचनाएं विस्मय तथा वास्तविकता, दोनों तरह से सृजित होती हैं। उनकी रचनाओं में पत्रकारिता बहुत बार बाधक होने पर भी 'स्टेच्यू रमवा नी मजा' जैसे शुद्ध गुण-संपन्न ललित निबंध मिलते प्रतीत होते हैं। कविश्री जयंत पाठक ने 'तरुराग' संग्रह में 'स्वप्नतरु' जैसी नितांत रमणीय रचना देकर ललित निबंध के प्रति अपने स्नेह को भी दर्शाया है। पत्रकारिता के कारण ऐसी अनेक मर्यादाएं होने के बावजूद, इन निबंधकारों से कुछ अपना लेने जैसे ललित निबंध मिले हैं। उनका मूल्य ललित निबंध के स्वरूप विकास के संदर्भ में तथा ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अधिक रहा है।

भोलाभाई, दिगीश, चंद्रकांत के बाद ललित निबंध में एक स्थिरता बकुल त्रिपाठी और प्रवीण दरजी के निबंधों में देखने में आती है। बकुल त्रिपाठी हास्य-लेखक के रूप में प्रख्यात हैं, यह सच है। लेकिल 'बैकुंठ नथी जावुं' संग्रह की रचनाओं में उन्होंने कुछ भिन्न रूप में काम किया है। उस नर्म-मर्म के सूत्र का यहां वह थोड़ा-बहुत आधार तो लेते ही हैं, लेकिन उसके द्वारा कुछ अधिक गंभीर बात भी यहां शुरू करते हैं। ऐसी गंभीर भूमिका को वे बीच-बीच में नम्रता से प्रकट करते हैं, भीतर की गठरी खोलते जाते हैं, स्मरणों को उड़ेलते जाते हैं और इस तरह 'बैकुंठ नथी जावुं', 'होली' तथा 'वस्तुओं' जैसी श्रेष्ठ रचनाएं देते हैं। भाषा को बोलचाल के स्तर पर बनाए रखकर वे यह कला-रूप उत्पन्न करते हैं। ललित निबंध के अनुसंधान द्वारा ऐसा कर पाना उनकी विशिष्टता है।

'लीलापर्ण', 'दर्भांकुर', 'घासनां फूल' तथा 'वेणुरव' जैसे निबंध संग्रहों द्वारा नवें-दसवें दशक में जिनकी निबंध प्रवृत्ति भरपूर रूप से विस्तृत-विकसित हुई है, ऐसे प्रवीण दरजी ने विषय और भाषा दोनों स्तर पर नए परिणाम प्रकट करती 'ओरडो', 'हास्पिटल', 'डगलो', 'शब्दो', 'ईश्वर' तथा 'तमें, हुं...आपणे बधा' जैसी ढेरों रचनाएं देकर ललित निबंध के नूतन मिजाज का परिचय कराया है। इन रचनाओं में विलक्षणता के साथ कलामयता का अद्‌भुत सम्मिश्रण दिखता है। उनके बहुमुखी 'मैं' का एक सौंदर्यभरा संसार इन रचनाओं में चित्रित होता नजर आता है। वह संसार भावुकता में मिल जाता

है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना होगा कि वह भावुक बन जाता है। उनकी रचनाओं की यही सिद्धि है। भाषा-छटा, भाषा-भंगियों का परस्पर एक होना भी रचनाओं में अकथ्य अंश बन जाते हैं। ललित निबंध के स्वरूप के साथ उनका गहरा संबंध रहा है, ऐसा उनके संग्रहों को देखते हुए सहज अनुमान किया जा सकता है।

मणिलाल पटेल ने 'अरण्योंमां आकाश ढोलाय छे', 'कोईसाद पाडे छे' तथा 'माटीवटो' जैसे संग्रहों द्वारा ललित निबंध को अपनी तरह से विकसित करने का प्रयत्न किया है। पत्रकारिता का निमित्त होने पर भी जहां वह सरल और सहज रूप में 'मैं' तथा उसके आनंद को निबंध का रूप दे सके हैं, वहां परिणाम अच्छा आया है। उनका झुकाव निबंध को शुद्ध रूप में लाने का होने के कारण 'फागणना दिवसो' तथा 'अरण्य नी आर-पार' जैसी उनकी कितनी ही रचनाएं स्पृहणीय बन पड़ी हैं। नए निबंधकारों में उनका उत्साह आशास्पद रहा है।

नए निबंधकारों में 'मीनी माटीनी महक' संग्रह द्वारा किशोरसिंह सोलंकी भी ध्यान आकर्षित करते हैं। देश, बचपन, परिवारजन, मित्र—इन सब का उनके निबंधों में उत्साहपूर्वक वर्णन होता रहता है। 'शेइडो', 'धूलेटी', 'मेलो' जैसी रचनाएं ग्राम-जीवन की विशेषता को कलात्मक रूप में व्यक्त करती हैं। लोकबोली का सौंदर्य उनकी अनेक रचनाओं में आया है। प्रीति सेनगुप्ता मुख्यरूप से यात्रा-लेखिका हैं, फिर भी उनकी कलम में ललित निबंध सृजित करने की पूरी क्षमता है, यह बात 'ते आ शहेर' जैसी रचना को पढ़ने से पता चलता है। उनके कितने ही यात्रा-वर्णन के अंश भोलाभाई के निबंधों में आते हैं तथा शुद्ध निबंध का आभास उत्पन्न करते हैं। 'माटीमां खीलेलां मेघ धनुष' संग्रह द्वारा मफत ओझा ने भी अपनी तरह से ललित निबंध को विकसित किया है। प्रकृति और मनुष्य की कितनी ही अपरिचित मुद्राओं को उभारने में उनकी रुचि रही है। 'गरमालो अने गुलमोहर' उनकी इसी तरह की रचना है। वीनेश अंताणी ने अपने संग्रह 'पोत पोताना वरसाद' द्वारा ललित निबंध का द्वार खटखटाया है। गद्य पर उनके सराहनीय प्रभुत्व, मनःसंचय तथा उसके चंचल रूपों को निबद्ध करने की योग्यता के कारण इनकी रचनाएं अत्यंत निर्दोष बन पड़ी हैं। 'पोत पोतानो वरसाद' इस बात का एक उदाहरण है। इस श्रेणी में 'च्यूइंगम' के लेखक नवनिध शुक्ल भी आते हैं। उन्होंने स्मरणों के सहारे हृदय को आद्र कर देने वाली 'च्यूइंगम' जैसी कितनी ही श्रेष्ठ रचनाएं दी हैं। पन्ना अध्वर्यु का संग्रह 'खोमो भरी ने उजास', कुंदनिका कापड़िया का संग्रह 'चंद्र, तारा, वृक्ष, बादल', दिव्येश त्रिवेदी का संग्रह 'नंदनवन', केशुभाई पटेल का संग्रह 'एक घर जोया नुं याद' तथा रमेश जानी का संग्रह 'जे मली जीवननी पलो' आदि अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पन्ना जैसे निबंधकार ने अपने संग्रह 'ळ' में नए विषयों को स्पर्श किया है। कुंदनिका ने 'वसंत आँवशे' तथा 'अे कोनुं वाद्य हशे?' जैसे संग्रहों में सहज श्वास-उच्छवास के रूप में प्रकृति-पिंड-ब्रह्मांड को निबंध का विषय बनाया है। दिव्येश

पत्रकारिता की सीमा को लांघकर सावधान व्यक्ति की तरह अनेक विषयों में व्यक्त हुए हैं। उनकी रचनाओं में वृक्ष या प्रकृति आते हैं, लेकिन भिन्न रूप में। 'वरसाद' जैसी कृति इसका उदाहरण है। 'आ जीवन! आ पल!' संग्रह में रमेश जानी के मुंबई विषयक निबंध कहीं-कहीं उनकी संवेदनशीलता को स्पर्श कर जाते हैं।

गुजराती ललित निबंध को विकसित करने वालों में इनके अतिरिक्त उशनस्, रमेश दवे, योगेश जोशी, हर्षद कापड़िया, जोसेफ मकवान, गुलाम मोहम्मद शेख, भरत नायक, पुरुराज जोशी, रामचंद्र पटेल आदि निबंधकारों को भी याद करना जरूरी है। इन निबंधकारों की सभी नहीं तो, कोई-कोई रचना कभी विलक्षण रूप में अवतरित होती लगती है। गुजराती ललित निबंध की कितनी ही नई छायाएं भी इस संग्रह में देखने को मिलती हैं। ऐसी संवेदनशील कृतियों की संख्या सतत बढ़ती रहे! ललित निबंध के स्वरूप के लिए आज के सर्जक की सक्रियता तथा मंथन बढ़े हैं। पत्रकारिता के कारण श्रेष्ठ माने जाते निबंधकार भी कहीं-कहीं दिशा चूक जाते दिखते हैं। चंचलता में या स्वानुकरण में मिल जाए, फिर भी उन्हें स्पर्श करें ऐसी रचनाओं की संख्या भी अच्छी-खासी है। ललित निबंध का इतिहास इस तरह गुजराती भाषा में, अन्य स्वरूपों की तुलना में संक्षिप्त काल का है। लेकिन इस स्वरूप के प्रति आज के सर्जकों की जो अभिमुखता रही है, एकाग्रता रही है वह इस स्वरूप के लिए श्रद्धा जगाती है। इस तरह समृद्ध हुआ गुजराती निबंध साहित्य और अधिक समृद्ध और उत्कृष्ट होता रहे।

इस संग्रह में निश्चित पृष्ठ मर्यादा होने से स्वाभाविक रूप से अपेक्षित निबंधकारों में से कुछ को ही संकलित कर पाना संभव हुआ है। इस चयन में एक-दो बातों का ध्यान रखा है। एक तो यह ललित निबंधों का संग्रह है, इसलिए इसमें यात्रा, जीवनी या हास्य जैसे तत्वों की अधिकतावाली अथवा विचार-तत्व की प्रधानतावाली रचनाओं को सम्मिलित नहीं किया है। फिर भी, ललित निबंध के स्वरूप में जिनकी किसी भी तरह से गणना मात्र भागीदारी रही है, जिनके द्वारा कुछ नया उन्मेष प्रकट हुआ है, स्वरूपगत किसी नूतन अंश का समावेश हुआ है, उन्हें अधिक महत्व दिया है। कुछ रचनाएं भिन्न-भिन्न कारणों से स्पर्श कर गई हों, स्मरण में भी सतत रही हों, फिर भी पत्र-पत्रिकाओं या दैनिकों से बाहर निकलकर उनका ग्रंथस्थ रूप न बन पाया हो, तो वैसी रचनाओं को भी संकलन में छोड़ दिया गया है। अलबत्ता प्रस्तावना में, किसी न किसी रूप में उन रचनाओं का, उन सर्जकों का स्मरण तो यथाक्रम देखने को मिलेगा ही।

संक्षेप में, इस ललित निबंध संग्रह में गुजराती ललित निबंध का बदलता, विकसित होता, नए आकार धारण करता एक चेहरा नजर के सामने खड़ा हो सके, यह देखने का नम्र प्रयास किया है।

—प्रवीण दरजी

1

मध्याह्न का काव्य

—काकासाहब कालेलकर

वेद में मध्याह्न का जैसा वर्णन है, वैसा किसी दूसरे ग्रंथ में नहीं। मध्याह्न एक बड़ा शिकारी कुत्ता है और वह आकाश में दौड़ता है। उसने जीभ बाहर निकाल रखी है। उसमें से ज्वाला निकलती है। यह कुत्ता किसका होगा? सूर्य का या उसके पुत्र का? यमाजी भास्कर हमेशा कुत्ते लेकर घूमते हैं, लेकिन उनकी चार-चार आंखें होती हैं। भास्कर राव से ही उन्हें वे कुत्ते मिले होने चाहिए। स्वयं बारह आंखों वाले हैं, इसलिए चार आंखों वाले कुत्ते उनके ही पास होंगे।

मध्याह्न को कुत्ते की उपमा देनेवाला नया कवि हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय है। उनके 'फीस्ट आफ यूथ' (यौवन की मेजबानी) नामक काव्य-संग्रह में ऐसा ही चित्रण देखने को मिलता है। कवि त्रिभुवन व्यास ने मध्याह्न का वर्णन करने का प्रयत्न किया है। जबकि, आज के मध्याह्न का अनुभव करने के बाद 'ऋतुसंहार' में मिलता ग्रीष्म का वर्णन ही ध्यान में आता है। मध्याह्न के त्रास से पीड़ित चूहा, सर्प के फण की छाया लेने में भी नहीं हिचकता। दूसरे क्षण दुर्वासा का भाई विश्वामित्र याद आता है। उसने हरिश्चंद्र का सत्य परखने के लिए चंद्रभानु को भयंकर तपाया था। फिर भी हरिश्चंद्र का सत्य तो नहीं ही पिघला। यह बात अलग है कि कोमल रोहीदास भी उससे विचलित न हुआ।

ऐसी ही प्रखर धूप में, एक बार मुझे बचपन में नंगे पांव दवा लेने जाना पड़ा था। म्युनिसिपैलिटी के लालटेन के खंभे और घर की दीवारें कंजूस की तरह अपनी छाया अपने ही पांव तले दबाकर खड़ी थीं, इसलिए मेरे पांवों को छाया का आश्रय कहां से मिलता? सड़क से गुजरे परोपकारी पशुओं ने गोबर के चोथ गिराए थे। वह भी दिखता तो क्षणभर के लिए उस पर जा खड़ा होता। उसकी ठंडक कितनी मीठी लगती! पांव से चिपककर उसके यदि सूखे उपले बनते तो जरूर वे पादत्राण (चप्पल) की गरज न रखते। ऐसे समय गोबर जैसी वस्तु गंदी नहीं लगती। नफरत या सौंदर्य आखिर वस्तुगत नहीं, भावनागत हैं।

उस दिन धूप पर मैं अंतिम बार चिढ़ा। उसके बाद मैं हमेशा धूप से प्रेम ही करता आया हूं। यह परिवर्तन किस कारण हुआ, यह जानना मुश्किल है। 'त्राटिका' नाटक में प्रतापराव अपनी नवोढ़ा वधू को धूप में चांदनी कहकर ले जाता है। उसके साथ का समभाव उसे ऐसा ही लगा हो, कौन जाने? पर ऐसा नहीं है। सचमुच ही, धूप का रंग मुझे खूब पसंद है। कितनी ही वस्तुओं के प्रति हम तटस्थ नहीं हो सकते, इसलिए उसका सौंदर्य खो देते हैं। बिहार में तालाब पर लाल रंग की काई जमती है। उससे अंजीरी रंग के गलीचे की कैसी अनोखी शोभा फूटती है! लेकिन तालाब के पानी में जाने पर तो पांव ही फिसलता है, और फिर वह पीने लायक नहीं होता। इस कारण उसका स्मरण कर आदमी कड़वा मुंह बनाता है। आदमी उपयोगिता के ख्याल से जब तक निकल नहीं जाता, तब तक सौंदर्य-प्रेम समझ नहीं सकता।

मेरा तर्क यह है कि जिस धूप में कोमल फूल खिलते हैं उस धूप में आप दोष कैसे निकाल सकते हैं? जो धूप केले के पेट का पानी भी नहीं लूटती, उसे त्रासदायक कहा जा सकता है?

धूप पूरे जोश में लगती हो, उस समय आकाश की शोभा खास देखने लायक होती है। दूध दुहने के समय जैसे भैंस आंखें बंद कर निस्तब्ध खड़ी रहती है, उसी तरह आकाश धूप की छाया छोड़ता ही रहता है। नहीं दिखते बादल, नहीं दिखती चांदनी। चांद होता भी है तो बासी रोटी के टुकड़े की तरह कहीं पड़ा रहता है। सर्वत्र एक ही रस फैला हुआ होता है। उसे वीर रस कहें या रौद्र? मैं तो उसे शांत रस ही कहूंगा। शांत रस शीतल ही क्यों होता है? तप्त क्यों नहीं होता?

गरमी के दिन अपेक्षाकृत रमणीय होते हैं, ऐसा प्रमाण-पत्र देने की कोई जरूरत नहीं। मध्याह्न भी कुछ कम रमणीय नहीं होता। मात्र उस रमणीयता को परखने की दृष्टि चाहिए, इतना ही। दोपहर भर सड़कें जैसे सूनी होती हैं, गांव-गांव के बीच का अंतर बढ़ता है, शहर में अभी भी अधिक बस्ती समा सकती है, ऐसा भास होता है। और जैसे ईश्वर की इस लीला के आगे चराचर सृष्टि तो क्या, मानव प्राणी भी स्तब्ध हो जाता है।

धूप का आनंद परखता है केवल पवन। वह सुख से इच्छानुसार दौड़ता है। नदियों के ऊपर भी दौड़ता है और पहाड़ों के ऊपर से भी दौड़ता है। समुद्र हो या मैदान हो, उसे दौड़ने में जरा भी कठिनाई नहीं होती। उसे गोबर की चप्पल नहीं ढूंढ़नी पड़ती। वह जा-जाकर वृक्षों से पूछता है, 'क्यों, अच्छी तरह हैं न?' आलसी वृक्ष आवेश से सिर हिलाकर जवाब देते हैं, 'क्यों नहीं, क्यों नहीं?' आकाश में उड़ती चीलें भी धूप के रस में आनंद मनाती हैं। जरा भी जल्दीबाजी किए बिना गोल-गोल उड़ती वे ऊपर जाती हैं और फिर उतने ही धैर्य से नीचे उतरती हैं। जैसे, प्रशांत सागर के यात्री जहाज।

ऐसी धूप में यदि सफर का प्रसंग आए तो शुरू में घड़ी-एक-घड़ी जो तकलीफ होती है, बस उतनी ही। लेकिन एक बार पसीना छूटा, फिर तो ऐसा आनंद आता है जैसे

तालाव में स्नान कर रहे हों! हां, पांव तले रेत हो तो पांव के बिस्कुट जरूर बनेंगे। लेकिन यह दोष कोई धूप का नहीं है।

अन्यस्मात् भवबधपदो नीचो प्रायेण युस्सहो भवति।
रविरपि न दहति तादक् यादक् दहति वालुका-निकर।।

मनुष्य चाहे तो इसका उपाय कर सकता है। राजस्थान के लोग जो जूते पहनते हैं उसमें ऊपर की छोटी जीभ की जगह मोर की कलगी जैसा चमड़ा ही लगा होता है। रेत में चलने पर रेत तो खूब उड़ेगी ही, लेकिन इस कलगी के कारण पांव बच जाते हैं। राजपूत इसे क्या कहते हैं, कौन जाने? अरसिक अंग्रेज इसे 'सैंडगार्ड' (रेत-रक्षक) कहेंगे। मैं तो इसे जूते की कला कहूंगा!

सुबह-शाम की अपेक्षा मध्याह्न में आकाश का रंग कुछ हल्का होता है, इसलिए ही धूप इतनी अच्छी लगती है। खग्रास ग्रहण के समय धूप में कालापन आता जाता है और आकाश भी ऐसा गमगीन दिखता है कि उसे आश्वासन देने के लिए तारों को भी दौड़ आना पड़ता है। इसकी अपेक्षा तो चतुर्दिक फैला फीका आकाश हजार गुना अच्छा। और इसमें यदि हलके बादल आ जाएं तो, तो संगमरमर की शोभा ही देख लें।

लेकिन धूप का आनंद प्रत्यक्ष मिलता हो तो उस समय शब्द लिखने का भी नहीं सूझना चाहिए। अधिक लिखना हो तो लेखनी भी सूख जानी चाहिए। फिर कवि विलियम कूपर विलाप करे तो भी स्याही के बिना वह लिख कैसे पाएगा?

शांति-निकेतन में गर्मी के दिन थे। भारी दोपहरी में कविश्री से मिलने गया था। मैंने उनसे कहा—

'असमय आकर आपको तकलीफ दे रहा हूं।'

उन्होंने कहा, 'आपने भी तो तकलीफ उठाई है न!'

मैंने कहा, 'नहीं, मुझे तो धूप अच्छी लगती है, मैं तो इसका आनंद लूटता हूं।'

यह सुनने के साथ कविश्री एकाएक खुश हो गए और बोले, 'हें! आपको भी धूप में आनंद आता है? जब बहुत धूप होती है तब मैं तो खिड़की के आगे आराम-कुरसी डालकर लू में नहाता हूं। मुझे इसमें खूब ही आनंद आता है। पर, मैं तो समझता था कि ऐसा शौकीन अकेला मैं ही हूं।'

मैंने डरते-डरते विनोद किया, 'रवि को अपनी धूप न पसंद हो तो वह कहां जाएगी?'

('जीवन का आनंद' से)

2

मछुआरा नृत्य

—स्वामी आनंद

मुंबई के पड़ोस में जिन स्थलों के वार्षिक मेले मैंने अपने बचपन में देखे हैं, उनमें वसई का श्रावणी पूर्णिमा और कार्तिक पूर्णिमा का मेला—इन दो मेलों में मैं सबसे अधिक बार गया हूं। इन मेलों का स्मरण मुझे अच्छी तरह है।

वसई के दो-तीन पुराने कुडाल, शेणवी, पांचकलशी परिवारों के साथ हमारा बहुत निकट का संबंध था, घर का-सा गाढ़ा संबंध। मेले के दिन आते और ये लोग हमारे बड़े-बूढ़ों को मेला देखने के लिए आमंत्रित करते और खासकर बच्चों को भेजने के लिए कहते। कोई मुंबई आया हो तो खुशी से घर मिलने आता और आग्रह कर-करके घर आने को कह जाता। और यदि मेले के दिन निकट आ गए होते, तो बड़े-बूढ़ों से कुछ दिनों बाद आने को कहकर हम बच्चों को अपने साथ ले जाता।

हम बच्चे तो खेलते-कूदते ही रहते। आनेवाला या घर का कोई न कोई व्यक्ति हमें वहां ले जाता। कई बार घर का कोई हमारे साथ गया होता तो एक-डेढ़ दिन रुककर वापस लौट जाता। लेकिन हम बच्चों को तो पूरे तीन दिन या अधिक भी वे रोक रखते और हम रुक जाते। हम तीन-चार होते और यजमान के घर के लड़कों की संख्या मिलाकर सात-आठ सहज हो जाती। मेले के शुरू होने में अभी एक-दो दिन बाकी होते, उस बीच हम रोज बाहर घूमने-फिरने का प्रोग्राम बनाते। सुबह की पेज (चावल की कांजी) पीकर हम दोपहर के लिए थोड़ी चपातियां और कच्चे केले की सब्जी बांध लेते। दो-तीन घर के लड़के साथ निकल पड़ते। हमारे यजमान के काकू (काकी-मां) का लड़का हम सब में बड़ा था। चौदह-पंद्रह साल का। वही हमारा मुखिया होता।

वसई और उसके आस-पास के सारे गांव केले, नारियल, पान के बगीचे और लालटोपीधारी दूधवाले ग्वालों के लिए प्रख्यात हैं। हम वसई, माणिकपुर, पापड़ी, भुईगांव, नायगांव, खोचीवडुं और अगाशी अरनाला, नाला सोपारा तक के गांवों के

बगीचों तक भटकते। लालटोपी वाले ईसाइयों के घरों में और उनके चर्च में घुस जाते। रसबाल (लाल केला), राजेली, मुठेली, अेलची, सोनकेली, बनकेली आदि-आदि केले की जात को पहचानना सीखते। फलों के गुच्छे गिनते, शर्त लगाते, पानीवाले हरे नारियल के छाती तक ऊंचे लगे ढेर देख-देखकर नाच उठते, खाते, फेंकते, मौज-मस्ती करते। वसई का किला देखने जाते। वहां आंखमिचौनी खेलते। दो दिन मेले में घूमते-फिरते। एक घड़ी भी पांव बांधकर नहीं बैठते और शाम होते-होते थककर चूर हो जाते।

वसई का मेला श्रावणी पूर्णिमा को किले के निकट नदी किनारे लगता। बरसात बीतने पर इस पूर्णिमा के बाद मछुआरों के लिए समुद्र थोड़ा-बहुत साफ हुआ लगता। इसलिए मछुआरों की पूरी कौम इस दिन समुद्र पूजने निकलती। नए-नए, रंग-बिरंगे कपड़ों में बन-ठनकर हाथ में नारियल और पूजा का सामान लिए मछुआरों की लंबी कतारें किले के निकट की नदी के किनारे पहुंचतीं। वहां पगड़ी-कुरता पहने या केवल दुपट्टा ओढ़े ब्राह्मण पुरोहित धूप-दीप, पुष्प और पूजा का सामान सजाकर पंक्ति बांधकर बैठे होते। हर-एक दंपति, पुरोहित के सामने उकड़ूं बैठकर उनकी मदद से समुद्र-देवता का पूजन करते, हरा नारियल चढ़ाते, नए साल के लिए उसकी कृपा तले समृद्धि मांगते। हर-एक स्त्री अपने पति की और पूरे परिवार के पुरुष वर्ग की खैरियत के लिए समुद्र-देवता से याचना करती।

इन सब पूजा करने वालों के हाथों समुद्र में चढ़ते ढेरों नारियल जो भी समुद्र में हाथ डालकर पकड़ लेता, उसी का हो जाता। इस कारण 'जीतवा' गांव की युवा टोली नदी के पानी में उतर पड़ती और उन नारियलों को वे पकड़ लेते। बीच-बीच में छोटी-छोटी नाव घुमाते भाई-चाचाओं को अथवा किनारे खड़े घर के लोगों को जीता हुआ नारियल फेंक कर देते, और इन नारियलों का ढेर किनारे पर लगता जाता। कभी इन नारियलों में पुरोहितों का दो-चार आने का हिस्सा भी होता। लेकिन अधिकतर तो ऐसी मांग करने वाले पुरोहितों को वे युवक कहते, 'चलिए, हम नहीं लेंगे, आप स्वयं पानी में उतरकर निकाल लें।' और वे पुरोहित झेंप जाते तो उन पर हंसते। ऐसे प्रसंगों पर घर के बड़े-बूढ़े युवकों को डांटते और पुरोहितों का अदब-लिहाज रखने को कहते। लेकिन मजाकिया युवक भाग्य से ही उनकी बात सुनते।

पवित्र कार्तिक पूर्णिमा का मेला वसई के श्रावणी मेले की अपेक्षा बहुत विशाल होता था। इस मेले में वसई-विराट पंथ के ही नहीं, बल्कि वरली, तुचमा उरण, उलवा दांडा, वेसावा, रेवस, धरमतर, पनवेल, नागोठणा से लेकर मढ, दहीसर, गोरई, राई, उत्तण, भाईदर, घोड़बंदर, जुचंद्रा और वैतरणा पार पालघर, सप्तपाटी, केलवा, माहीम, दहेणु तक के अगरी (नमक बनाने वाले), कोली, मांझी, मांगनेवालों के टोले-टोले निकल

पड़ते। यह मेला खत्म होता तो उसी जगह फिर इस किनारे के ईसाई लोगों का मेला शुरू होता था, इसलिए दुकानें वगैरह दो दिन अधिक चलती रहतीं।

लेकिन वसई के इस पवित्र मेले का सबसे अधिक आकर्षण हमारे बचपन के दिनों में था, मछुआरों का नृत्य। दोपहर ढलने के बाद पिछली पहर मछुआरे पुरुष-स्त्रियों का, मांझियों का नृत्य चलता। एक समान रंगीन पोशाक पहने सौ-सौ, दो-दौ सौ स्त्री-पुरुष हाथ में एक समान रंग-बिरंगे पट्टों वाली पतवारें लेकर, पंक्ति बांधकर एक ताल से नृत्य करते।

एक तरफ सिर पर एक जैसी टोपियां, एक समान हाफकोट और कमर से नीचे आगे की तरफ त्रिकोण लटकते नए-नए हलके लाल पट्टी के चौकोर रुमाल लपेटे मर्द और दूसरी तरफ कसकर बांधे हुए अवयव, सिर के बाल संवारे जूड़ों में एक-एक फूल, चूड़ियों-बिंदियों, नारियल के तेल की खुशबू फैलाती, सीसम की गंडेरी जैसी मस्त मल्लाहिनें हाथ में समान साइज और डिजाइन वाली रंग-बिरंगी पतवारें लेकर कतार में खड़ी रहतीं। सबकी पोशाक का रंग नौकाओं के रंग जैसा ही कत्थई होता, और पूरे समूह की रचना इतनी खूबी से की जाती कि दूर सहज ऊंचाई से देखने वालों को एक बड़ी रंग-रोगन की हुई नई-नकोर नाव समुद्र में मछली पकड़ने निकल रही हो, ऐसा हू-ब-हू भास होता।

फिर समूह संगीत के साथ नृत्य शुरू होता। सजीव मानवों का तालबद्ध हिलना-डोलना और हाव-भाव-अभिनय से थिरकती सजीव नाव एक साथ चलने लगती। मध्य भाग में अपने भिन्न पचरंगी पोशाक से तत्काल पहचाना जा सके ऐसा मस्त डील-डौलवाला मुख्य माझी बांस और हलके पाल वाली मस्तूल थामे खड़ा रहता। उसके एक इशारे पर तमाम स्त्री-पुरुषों के हाथ की पतवारें एक समान चलने लगतीं।

धीरे-धीरे समूह की उमंग बढ़ती जाती थी। प्रेक्षकों की टोलियों में से उत्साह-शाबाशी के बोल जैसे-जैसे उठते, वैसे-वैसे नृत्य करने वालों का, उनके संगीत का तथा अभिनय का रंग चढ़ता जाता। देखने वाले भी उमंग में आकर ऊंचे स्वर में हुंकारी लगाते, बढ़ावा देते। देखते-देखते नृत्य करने वाले, देखने वाले—सभी अपनी-अपनी जगह धमधम-थमथम एक ताल में गाने-नाचने में मस्त हो जाते।

जैसे-जैसे नृत्य आगे बढ़ता जाता, वैसे-वैसे दो-चार सौ लोगों के समूह से बनी इस चलती-फिरती विशाल नौका में से तरह-तरह की आवाजें आनी रहतीं। पानी के कटने की छटपटाहट, हवा के झोंकों के साथ ऊपर-नीचे होती पाल की फड़फड़ाहट की आवाज सुनाई पड़ती। ऐसा अनुभव होता मानो समुद्र की उत्ताल लहरें दीवार की तरह ऊंची उठ रही हैं। देखनेवालों को एक क्षण तो समझ ही नहीं आता था कि ये सारी आवाजें कहां से और किस तरह आ रही हैं। सबकुछ नर्तकों के अभिनय का कमाल था।

नृत्य का रंग जमता जाता और अदाकारों की मौज-मस्ती बढ़ती जाती। बीच-बीच

में वे खाना बनाने की, परोसने की, खाने की, घड़े-मटकों में से पानी निकालकर पीने-गिराने की, पीसने-कूटने की, नारियल का कद्दूकश करने की—ऐसी-ऐसी तरह-तरह की मुद्राएं बनाते रहते। कोई खाता होता, कोई नाक से खर्राटे बजाता, कोई आलस्य तोड़ता, कोई मछली पकड़ने का जाल संभालता, कोई मछली रखता, कोई मेहमाननवाजी का अभिनय करता। कोई नैवेद्य चढ़ाता और कोई गोरणी को (स्त्री-पुरुष के जोड़े को) खाना खिलाता। कोई रो रहे बालक को चुप कराता। यह सारा अभिनय नृत्य करने वाले केवल मुंह-हाथ-जीभ की मदद से बार-बार ऐसी खूबी से करते कि एक-एक अदा, अभिनय और आवाज अलग हटकर सभी प्रेक्षकों को दिखाई देती, सुनाई देती।

काफी समय तक यह सब चलता। सब आनंद, आमोद-प्रमोद में मतवाले हो जाते।

नृत्य और अभिनय की यह झड़ी पूरे जोश से चलती होती। तभी एकाएक बादल घिरने का आभास होता। आकाश काला घोर हो जाता। हवा के झोंके चलने लगते। समुद्र भयानक आवाज करता सुनाई देता। समुद्र में तूफान उठने का सबको आभास हो जाता। एक-एक चेहरे पर चिंता और गमगीनी छा जाती।

देखते-देखते चार सौ लोगों के समूह से बनी सजीव नाव को कौन जाने कैसे समुद्र के थपेड़े लगने लगते! नाव डगमग होती दिखाई देती। लंबी या आड़ी झुक जाती। तड़ातड़ बरसते ओले या वर्षा की बूंदों की बौछार और फटने-फटने जैसी लगती पाल की फड़फड़ाहट सुनाई देती। पतवार पकड़नेवाला दोनों हाथों से नाव को घुमाता-नचाता। दो सौ-चार सौ लोगों की नृत्य करती हुई पूरी टोली एक प्राणी की तरह दुहरी हो जाती। पीने के पानी के घड़े-मटके और खाना बनाने-खाने के बरतन लुढ़ककर उलट जाते और उनके भड़ाभड़ फूटने जैसी आवाज सुनाई देती। चारों तरफ मौत नजर आती। छोटे-बड़े तमाम लोग हथेली पर जान रखकर नाव को बचाने में लग जाते।

लेकिन कोई घबराता नहीं। किसी कोने से भी किसी के रोने की आवाज सुनाई नहीं देती।

तूफान जोर पकड़ता जाता। तूफान पर नियंत्रण पाने और नाव को किनारे की तरफ लौटाने के लिए पतवार पकड़नेवाला (मांझी) सौ-सौ उपाय करता दिखाई देता। हिलती-डुलती नाव के आकार में नृत्य करता पूरा समूह डूबने से बचने के लिए प्रयत्न करता दिखता। समुद्र-देवता लाल-लाल आंखों से बार-बार घुड़कते सुनाई पड़ते। नृत्य करनेवाले भी अंत में थककर प्रयत्न करना छोड़ डूबने की तैयारी का अभिनय करते।

तमाशबीनों के बीच 'हाय-हाय' की पुकार उठती।

एकाएक नाच रही नाव का मुख्य माझी ऊपर उठता हुआ दिखाई देता। तालबद्ध नाचता, तीन-चार साथियों का सहारा लेकर एक ही छलांग में पाल के बांस से लिपट जाता। पाल को समेटने का अभिनय करता। (ऐसा करते-करते कभी लटक जाने का अभिनय भी करता। लेकिन किसी भी तरह पाल के बांस को छोड़ता नहीं।) अंत में पाल

को समेट लेता और नाव को उलटने से बचा लेता।

शुरू से अंत तक इस पूरे समूह का अभिनय इतना अधिक तादृश और प्रभावशाली होता कि देखने वाला भूल ही जाता कि समुद्र के बदले जमीन पर और लकड़ी की नाव के बदले मानवों से बनी नाव के आकार में यह सब घटित हो गया। एक-एक हाव-भाव, हिलना-डुलना, तौर-तरीका और अदा-अभिनय इतना जीता-जागता होता कि देखने वाला सारा भान भूल जाता। उसे ऐसा लगता जैसे समुद्री तूफान में फंसी चलती-फिरती नाव को ही वह देख रहा हो। दोनों हाथों से कलेजा थामकर वह देखता रहता। बस, देखता ही रहता।

अचानक नाव के किनारे की रेत तक पहुंचने की धर्र्र् आवाज सुनाई देती। सैकड़ों पतवारें एक साथ जमीन पर गिरतीं। तमाशबीन स्त्री-पुरुषों की टोलियां दौड़कर नृत्य करनेवालों से लिपट पड़तीं, उनका आलिंगन करतीं। असंख्य छोटी-बड़ी भेंट-सौगातों का लेन-देन होता। समुद्री तूफान में से इतनी बड़ी नाव को सुरक्षित बचाकर सही-सलामत किनारे लाने वाले मुख्य मांझी तथा पतवार पकड़नेवालों को प्रेक्षकों की टोलियां उठा लेतीं और अपने कंधों पर बैठाकर नाचती-गाती पूरे मैदान में फिरतीं। फूल-माला-गजरे, नए-नकोर लाल चौरस रुमाल, जरी के कामवाली गोल टोपियां—ऐसी-ऐसी असंख्य भेंट-सौगातों की उन पर वर्षा होती। कुछ तमाशबीन सूखे केले, दही के दोने, चावल-घाणी (लाई-फरवी), सांभर-मछली जैसे पकवान घर से बनाकर लाते और उसे खुले हाथों बांटते।

हम बच्चे, जिन्होंने एकदम शांत रहकर, सुध-बुध खोकर घंटे-डेढ़ घंटे के इस नृत्य को देखा था वे तो मेले से वापस आने के बाद भी कई दिनों तक उसी के ख्याल में डूबे रहते। मुंबई-कांदावाड़ी के हमारे छोटे घर-आंगन में और बगीचों में नारियल के पत्ते, केले के पत्ते, पेड़ के तनों के हिस्से, लकड़ी—जो भी हाथ आता उसे पतवार की अदा से पकड़कर, दो, तीन, चार—जितने लड़के-लड़कियां होते, उन्हें जुटाकर, सुबह-दोपहर, समय-असमय सारा दिन पंक्तिबद्ध नाचते ही रहते। घर के बड़े-बूढ़ टोकते, रोकते, खीझते, धमकाते—'मुए सब कोली-मांझी हो गए। वहीं ही रह जाते! वहां से वापस घर आए ही क्या करने? जाओ, वसाई—वेसावे रहने और जाल बुनने। नहीं तो सूखी मछलियां बीनो, वरली की खाड़ी जाकर। देखो तो, मुए मछुआरों की शक्ल-सूरत। व्यर्थ हुआ तुम्हारा अवतार!'

ऐसी-ऐसी गालियां रोज सुनते, तब कहीं आठ-दस-पंद्रह दिनों में कड़वा मुंह बनाकर धीरे-धीरे यह सब भूल पाते।

दुर्भाग्य से, भरे-भरे जीवनवाली यह प्राणवान कौम, सभ्य संस्कृति के भंवर में पड़ी और एकाध दशक बाद उनमें 'स्वमान' की इच्छा जागी। फलस्वरूप यह मछुआरा-नृत्य बंद हो

गए और समुद्र के कमरभर पानी में जाल-मछली के पीछे जिंदगी खपा देनेवाले और लज्जा-शर्म के लिए लाल-चौकोर गमछे कमर में लपेटे, नंगी पीठ रहने के अभ्यस्त इन मछुआरे जाति के पुरुष वर्ग में जांघिया-पायजामा शुरू हुआ। इस बदलाव का आग्रह उनके लिए सहज अस्वाभाविक और बिना अर्थ का ही था। संसार के कठोर मेहनतवाले किसानों की तुलना में दिन-रात खाड़ी-समुद्र में खेती करके संसार का पालनहार मछुआरों ने, शहरी लोगों के रहन-सहन और सभ्यता-प्रतिष्ठा के विचारों की तरफ भूखी नजरों से देखना सीखा। इस बदलाव ने जीवन के उल्लास और स्वयं की मेहनत के पुरुषार्थ के उमंग को उनसे छीन लिया। और शायद इसी कारण आज पचास वर्षों के बाद भी पोशाक का यह बदलाव इस कौम में अभी सर्वत्र नहीं आ पाया है।

लेकिन पुरानी जीवन-कला और रागरंग की उमंग का जो ज्वार मैंने अपने बचपन के समय में इन मेलों में उछलते देखा था, वह सदा के लिए अस्त हुआ, तो अस्त ही हो गया।

('धरती नी आरती' से)

3

फोटोग्राफ खींचने के लिए

—रा. वि. पाठक

मुझे आश्चर्य लगता है कि क्यों अब तक किसी ने इस विषय पर नहीं लिखा। हां, श्रीसुंदरम् ने (गुजराती जोडणी कोष में एक नियम है कि व्यंजनांत तत्सम नामों के हलंत हटा दिए जाएं, जैसे जगत् को जगत लिखा जाए। इसलिए गुजराती नामों में व्यंजनांत नाम मात्र सुंदरम् का ही मिलता है। और यह तत्सम है या तद्भव? उसके रूप किस तरह किए जाएंगे? यह उपनामवाले किसी के सुख के लिए व्याकरण नहीं चलने देंगे।) 'बा नो फोटोग्राफ' विषय पर काव्य लिखा गया है, यह मैं जानता हूं। लेकिन वहां फोटो नहीं खिंचवाने की बात है, खिंचवाने की नहीं। दुनिया में सभी विषयों पर लिखा जाता है, खाने जैसे विषय पर, खेल पर, रीति-रिवाज पर, विवाह पर, झगड़ने पर—इस तरह अनेक विषयों पर लिखा जाता है, फिर फोटोग्राफ विषय पर क्यों कुछ नहीं लिखा जाता ? दुनिया में विवाह या झगड़े एक या बहुत हुए तो दो-चार बार होते हैं। लेकिन फोटोग्राफ खिंचवाने का अवसर किसी के जीवन में कभी न आया हो, ऐसा तो शायद ही कोई होगा। साधारण व्यक्ति को भी जीवन में बारह बार तो फोटोग्राफ खिंचवाने का अवसर आता होगा। उसमें भी दूसरे सभी मामलों में फोटो खिंचवाने का कारण भिन्न होता है। आपको विवाह न करना हो या न झगड़ना हो, तो दोनों से मुक्त रह सकते हैं। लेकिन आपको फोटो न खिंचवाना हो तो उससे बच नहीं सकते। उसका मुख्य उदाहरण देखना हो तो महात्मा गांधी स्वयं हैं। वे फोटोग्राफ खिंचवाना नहीं चाहते, फिर भी उनके फोटो देश में कुछ नहीं तो हजारों खींचे जाते होंगे।

महात्मा गांधी शब्द लिखते हुए एक विचार आता है। कई स्वातंत्र्य और समानताप्रिय व्यक्ति कहते हैं कि अपने ही जैसे किसी व्यक्ति को महात्मा कहने की पुरानी रीति बीसवीं सदी में कहां से आई ? कम्युनिस्ट उन्हें 'कामरेड' या बंधु गांधी[1]

1. ओ हो हो हो। हिन्दुस्तान में क्या नहीं है? कम्युनिस्टों ने सबको कामरेड अर्थात बंधु कहने की परिपाटी चलाई, वह बहुतों को नई लगती होगी। लेकिन ठाकुरों में बंधु शब्द प्रयोग करने की पुरानी प्रथा है—इस सीमा तक कि ठाकुरों का दूसरा नाम भाई-बंधु है।

कहना पसंद करेंगे। और जो कम्युनिस्ट नहीं होंगे वे अंग्रेजी पढ़े लोग उन्हें मिस्टर गांधी कहना पसंद करेंगे। लेकिन अभी हाल में महात्माजी ने हाथ में ली गई ग्रामोद्धार योजना संबंधी, महात्माजी की पोलिटिकल योजना का गूढ़ हेतु समझाने के लिए जो सरकारी सूचना प्रसारित हुई है-—वह सूचना सरकार के यहां से चोरी कर प्रसारित हुई है—यही महात्माजी की पोलिटिकल नीति सिद्ध करने के लिए काफी नहीं? यह तर्क क्यों किसी ने नहीं किया?—उसमें महात्माजी शब्द का उपयोग हुआ है, इसलिए उसका उपयोग करने में बाधा नहीं।

पर मैं तो फोटोग्राफ की बात कर रहा था। मुझे लगता है कि फोटोग्राफी के साधनों में दो-तीन खास सुधार होने की जरूरत है।

यह सुधार करने की खास जरूरत इसलिए भी है कि एक सार्वत्रिक मान्यता यह है कि फोटोग्राफ में चेहरा हंसता हुआ ही होना चाहिए। अब दुनिया की अधिकतर मान्यताओं की तरह इस मान्यता के पीछे क्या समझ रही है, वह मेरी समझ में नहीं आता। क्या यह मानना चाहिए कि आदमी का हंसता हुआ स्वरूप ही उसका सबसे बड़ा स्वरूप है? तो प्रश्न उठता है कि सही स्वरूप क्या है? साधारण तौर पर ऐसा माना जाता है कि जो अधिक देर तक टिक पाए वही सबसे सही स्वरूप है। फिर तो आदमी सो रहा हो, तभी उसका फोटो खींचना चाहिए। क्योंकि आदमी सारी क्रियाओं में सोने की क्रिया ही सबसे अधिक समय तक करता है। आप शायद यह कहने के लिए लालायित होते होंगे कि "हां, इसीलिए ही बहुत बार 'सो रही खूबसूरती' (स्लीपिंग ब्यूटी) वाले चित्रों की प्रशंसा होती है।" लेकिन यह सही नहीं। यहां चित्रों की बात नहीं है, फोटोग्राफ की बात है। किसी सो रहे व्यक्ति का फोटो अभी तक देखा या सुना नहीं है। और आप फोटोग्राफर के यहां जाकर सोने लगें या घर पर फोटोग्राफर को बुलाकर सोना शुरू कर दें, यह दोनों बातें संभव नहीं हैं। ऐसा करना ही हो तो चीन में, जैसे होटलों में आदमियों के सोने के लिए अफीम की सुविधा होती है, वैसे ही फोटोग्राफर को भी साथ-साथ अफीम की सुविधावाला होटल रखना पड़ेगा और कैमरा सीलिंग की तरफ कहीं ऊपर लटका देना पड़ेगा। लेकिन यह सब करने के बाद भी 'सो रही खूबसूरती' जैसा फोटो आए, यह संभव नहीं है। गहरी नींद में मनुष्य की आकृति ऐसी होती ही नहीं। एक पूरी रात सो रहे मनुष्य की आकृतियां देखते रहें तो फिर 'सो रही खूबसूरती' का आप नाम नहीं लेंगे। नींद में हम अपने शरीर की आकृतियों को देख नहीं सकते, यह अच्छा ही है। सभी लोग लगभग एक ही समय सोते हैं और साथ ही उठते हैं, यह और भी अच्छा है। सोने के समय हमारे शरीर की आकृतियों की रेखाएं ढंकने-छिपाने के लिए हम ओढ़ते हैं, यह और भी अच्छी बात है। देर से उठना अच्छा है या नहीं, इस संबंध में बहुतों ने लिखा है। लेकिन देर से उठने के विपरीत सबसे बड़ी बाधा यह होनी चाहिए कि देर से उठनेवाला व्यक्ति सो रहे शरीर की आकृति दूसरे को दिखाता है। बाइबिल में कहा गया

है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति का बनाया है। इसका अर्थ यह होता है कि सभी प्राणियों में मात्र मनुष्य ही तनकर चलता है। ईश्वर को न मानते हों तो प्रमाणशास्त्र की भाषा में कहा जा सकता है कि प्राणियों के शरीर के दो किनारों में से पार होती बड़ी-से-बड़ी रेखा मात्र मनुष्य के संबंध में ही, जमीन से नब्बे अंश के कोण में खड़ी होती है, दूसरे किसी प्राणी में नहीं। आप कहेंगे जिराफ! लेकिन जिराफ के शरीर की लंबी-से-लंबी रेखा, वह खड़ा हो तब जमीन से नब्बे अंश के कोण में नहीं होगी। जमीन के साथ वह लगभग साठ अंश का कोण बनाएगी। यह नब्बे अंश का कोण जो मनुष्य का विशिष्टत्व है (इस कारण ही मनुष्य ने कोने में नब्बे अंश के कोण का नाप बनाया। गीता के श्रीकृष्ण को यदि पृथ्वी के संबंध में बोलना होता तो कहते कि "कोने में नब्बे अंश का कोण मैं!"), वह नींद में पता चलता है। इसलिए ऊपर पृथ्वी की परिभाषा में दी गई मनुष्य की व्याख्या के अनुसार मनुष्य सोता है, तब मनुष्य ही नहीं रहता। अतः मरे हुए आदमी को हम कब्र में या चिता पर सुलाते हैं। इसलिए कहता हूं कि सो रहे व्यक्ति का फोटो तो लेना ही नहीं चाहिए। फिर भी सो रहे लोगों के चित्र देखने में आते हैं, वह उस कला का असत्य माना जाना चाहिए। हर कला में सत्य हो या न हो, लेकिन उसमें असत्य तो होता ही है। और 'सो रही सुंदरता' चित्रकला का असत्य है। नाटक में भी सोते दिखते पात्र वास्तव में सो नहीं रहे होते, यह तो आप जानते ही होंगे। यह नाट्यकला का असत्य है।

इसलिए अधिक समय तक जो क्रिया टिकती हो, वह क्रिया मनुष्य का सही स्वरूप बनाती है। इस आधार पर हंसते चेहरे का फोटो सही नहीं होता। लेकिन मान लें कि कोई कहता है कि मनुष्य के सत्य स्वरूप का उस टिकने के समय की अवधि के साथ संबंध नहीं और मनुष्य का वास्तविक स्वरूप तभी प्रकट होता है जब वह हंसता है, तो यह भी सही नहीं। यात्रा कर स्टेशन पर उतरने के साथ ही खींचे गए फोटो में कुछ लोग हंसते होते हैं। क्या वे सचमुच उस समय मन से हंसते होंगे? हंसे भी तो क्या? बहुत यात्री थके हारे, जागरण वाले और भूखे भी होते हैं। यह जमाना ऐसा खराब है कि आपको न हंसना हो तो भी समाज के लिए—रिवाज के लिए हंसना पड़ता है।

मेरे एक मित्र जो हास्य रस के श्रेष्ठ लेख लिख सकते हैं, उनसे मैंने एक बार हास्य-लेख लिखने को कहा। वे बोले, "मन में हास्य न हो तो हास्य-लेख किस तरह लिखा जा सकता है?" कहावत है कि तमाचा मारकर मुंह लाल रखना पड़ता है। तमाचा मार कर मुंह लाल रखा जा सकता है, लेकिन हंसता हुआ तो नहीं रखा जा सकता। लेकिन यह जमाना तो ऐसा है कि तमाचा मारकर मुंह हंसता रखना पड़ता है। नहीं तो ये सारे यात्री किस तरह कैमरे के सामने चेहरा हंसता हुआ रखते होंगे? दूसरा उदाहरण—कुछ अंग्रेज दंपति विवाह कर चर्च से बाहर निकलते ही तुरंत हंसता हुआ फोटो खिंचवाते हैं। तो क्या विवाह के तुरंत बाद कोई हंस सकता है? आप कहेंगे, विवाह

में कुछ यात्रा जैसी थकावट क्यों नहीं लगती? हिंदू विधि से तो विवाह में भी थकावट लगती है। लेकिन मान लें कि किसी ने सुधारवादी विधि से संक्षिप्त ढंग से विवाह किया हो तो भी विवाह के तुरंत बाद हंस पाते हों, यह मैं नहीं मानता। कितने ही विवाह के शास्त्रीय पंडितों का मत है कि लड़कियां विवाह के समय या विवाह के तुरंत बाद या ससुराल जाते समय रोती हैं, यह स्वाभाविक भी है। लेकिन यह बात भी जाने दें। आदमी का सही स्वभाव किस चीज में प्रकट होता है, यही मूल सवाल है न? संपूर्ण काव्य-साहित्य देख डालिए। शायद ही कोई कवि ऐसा होगा जो यह नहीं कहता होगा कि मुझे रोना आता है या आंसू आते हैं। अश्रुकाव्य, अश्रुकवि तो हमारी प्रशस्ति के शब्द हैं। संपूर्ण साहित्य में करुण साहित्य और हास्य साहित्य दोनों की तुलना करें। मेरी दृष्टि में सत्तानबे-तीन का प्रतिशत आएगा। मैं मात्र गुजराती या हिन्दी साहित्य की बात नहीं करता। सारे संसार का साहित्य लीजिए, तो उनमें भी करुण तथा हास्य साहित्य का यही प्रमाण आएगा। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि हंसने के समय मनुष्य का सही स्वरूप प्रकट होता है। लेकिन रोते हुए तो कोई फोटो खिंचवाता नहीं।

अब यदि कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि साहित्य में रोते मनुष्य का सही स्वरूप प्रकट होता है और फोटोग्राफी में हंसते मनुष्य का सही स्वरूप प्रकट होता है। इसे सीधी भाषा में कहना हो तो यही कहा जाएगा कि मनुष्य को दिल रोता और मुंह हंसता रखना चाहिए। ऐसा करने से उसका सही स्वरूप प्रकट होता है। इसी का नाम दंभ है या दूसरा कुछ? मुझे तो विश्वास होता है कि फोटो और साहित्य दोनों झूठे हैं। कला मात्र झूठी है। अकारण श्रीयुत मुंशी ने ऐतिहासिक उपन्यास में छूट ली जा सके, यह सिद्ध करने के लिए इतिहास के विषय में इतना सब कहा। कला मात्र झूठी हो, कला में झूठ आ सकता हो, तो ऐतिहासिक उपन्यास में क्या हो सकता है और क्या नहीं, इस बात की चर्चा की जरूरत ही कहां रहती है? 'झूठ की मां से झूठ ही विवाह करेगा।' कला ही झूठी है तो कला में झूठी हकीकत जरूरत कही जा सकती है।

विवाह संबंधी यह दूसरी कहावत अब हाथ लगी है। अभी एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें खाने के विषय में सारी कहावतें संगृहीत की गई हैं। अब कोई विवाह संबंधी कहावतों का संग्रह करे, तो मैं समझता हूं, सारी कहावतें उसमें आ जाएंगी। क्योंकि खाना और विवाह—यही मनुष्य जाति की दो मुख्य प्रवृत्तियां हैं।

इसलिए जबकि हंसता हुए फोटो खिंचवाने के पीछे कुछ ऐसा कारण नहीं रहा है जो बुद्धि समझ सके, तो भी हंसते हुए फोटो खिंचवाने की प्रथा है—इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। शायद इस रिवाज के पीछे बुद्धिगम्य कारण नहीं है, इसलिए ही यह चालू रहा है। यदि बुद्धिगम्य कारण होता तो, तो कारणों की उपेक्षा करके भी आप रिवाज को हटा सकते थे। बहुत कुछ स्थिर हो गई प्रथाएं या स्थितियां बेजुबान बुद्धि की होती हैं, इसलिए ही टिकी रही हैं।

दूसरे प्राणियों से मनुष्य किस तरह भिन्न हैं? मैंने ऊपर कहा है कि मनुष्य पृथ्वी की तरह तनकर खड़ा रहता है या फिर धरती पर नब्बे अंश के कोण की तरह रहता है। दूसरे विषयों में वह किस तरह भिन्न है? शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य के साथ धर्म जुड़ा है, दूसरे प्राणियों के साथ धर्म नहीं होता। लेकिन आज के युग में तो धर्म जैसा कुछ बचा ही नहीं है। इसलिए यह व्याख्या व्यर्थ है। मैं कहता हूं, सभी प्राणियों में केवल मनुष्य ही हंस और रो सकता है। स्वर्गीय रमण भाई ने कहा है, 'हाथी भी हंसते हैं।' लेकिन वहां हाथी हंसे नहीं थे, बस खुश हुए थे। केवल मनुष्य ही हंसते हैं और रोते हैं। हमने देखा कि नाटक में उसका रोना और हंसना दोनों गलत है। अर्थात सारे प्राणियों की अपेक्षा उसकी भिन्नता यही है कि मनुष्य झूठा है।

लेकिन मूल बात पर आइए। हंसते चेहरे से फोटोग्राफ खिंचवाने का रिवाज रुक सके, ऐसा नहीं लगता। अब इस रिवाज के कारण फोटोग्राफर कई बार अपने ग्राहक को हंसाने का प्रयत्न करते हुए मुश्किल में पड़ जाते हैं। 'अपनी पत्नी को याद कीजिए'—लेकिन उस समय तो बहुतों के मुंह से दुख का निःश्वास निकलता मैंने सुना है। पत्नी का नाम सुनकर हंसे, या हंस सके, ऐसे बहुत कम लोग होंगे। एक बार तो मेरे पढ़ने या सुनने के अनुसार एक फोटोग्राफर ने अपने ग्राहक से कहा, "अपनी पत्नी को याद कीजिए।" ग्राहक ने तुरंत कहा, "मैंने उसे अभी हाल ही में तलाक दिया है।" फोटोग्राफर ने कहा, "तब तलाक को याद करें।" लेकिन तब भी ग्राहक हंस नहीं पाया। अंग्रेजी साहित्य से हमारे उपन्यासकार उदाहरण देते हैं, जैसे 'उसने मात्र छुटकारे का श्वास खींचा।' इस तरह कुछ का कुछ गुड़-गोबर न हो जाए, इसलिए फोटोग्राफर को हंसाने के कुछ निश्चित साधन चाहिए।

हमने देखा कि यह हंसना तो मात्र ऊपर-ऊपर का ही हंसना है, कुछ अंदर से हंसने की जरूरत नहीं। इसलिए शारीरिक हंसना हो सके तो बहुत है। शरीर के अंदर कोई-कोई ज्ञानतंतु के स्थान या मुख्य स्थान या केंद्र ऐसे हैं कि जहां स्पर्श करने से मनुष्य हंसता है, यह सर्वविदित है। फोटो खींचने के समय फोटोग्राफर स्वयं जाकर या किसी नौकर के द्वारा ग्राहक को हंसाने का प्रयास करे तो खराब लगेगा। फोटोग्राफर को तो कैमरे के पास ही रहना होगा। दूसरे व्यक्ति से ऐसा स्पर्श कराने पर ग्राहक कहीं बिगड़कर उसके सामने देखने लगे, शायद इस धमा-चौकड़ी में वह आदमी कैमरे के मध्य आ जाए। ग्राहक के पीछे रहकर इच्छित स्पर्श नहीं किया जा सकता—सिवा पांव के तलुए में। लेकिन अधिकतर लोग तो जूते पहनकर ही फोटो खिंचवाते हैं। फिर महिलाओं का इस प्रकार स्पर्श करना असभ्यता मानी जाएगी। इसलिए अच्छा तो यह है कि फोटोग्राफी के कैमरे के साथ एक वायरलेस जैसा साधन रखना चाहिए जिससे स्पर्श किए बिना इच्छित जगह वायरलेस द्वारा स्पर्श किया जा सके और आदमी को जरूरत भर हंसाया जा सके। इस वायरलेस साधन का दूसरा भी उपयोग हो सकता है। कुछ लोगों

को काफी फैल कर बैठने की आदत होती है। उनकी कमर के आस-पास किसी बिंदु का स्पर्श कर उसे तनकर बैठाया जा सकता है। और यह यंत्र जैसा होना चाहिए कि कपड़े के आर-पार भी असर कर सके।

एक दूसरा सुधार करने की भी उतनी ही जरूरत है। फोटोग्राफ खिंचवाने वाला आदमी फोटो में कैसा दिखेगा, यह फोटोग्राफर देख सकता है। बस, इतना ही काफी नहीं, अथवा कहें कि वह व्यर्थ है। सच तो यह है कि फोटो खिंचवाने वाले को स्वयं जानना चाहिए कि वह कैसा दिखेगा?

फोटोग्राफर तो बाहर से भी देख सकता है कि ग्राहक कैसा दिखता है? मनुष्य को स्वयं ही पता नहीं होता कि उसका चेहरा कैसा है? अथवा अलग-अलग फेरफार से वह कैसा दिखेगा? और अपने किस तरह के चेहरे को वह चाहता है, यह उसे ही तय करना है। फोटोग्राफी करने की अपेक्षा इस तरह हजामत कराने की कला अधिक सुविधाजनक मानी जाएगी। उसमें हर एक फेरफार में, हर क्षण मनुष्य स्वयं कैसा दिखता है—वह सामने के आइने में देख सकता है और अपना चेहरा कैसा होना चाहिए, उसकी फरमाइश कर सकता है। फोटोग्राफी में भी ऐसा साधन होना चाहिए जिससे ग्राहक अपना चेहरा पसंद कर फोटोग्राफ खिंचवाने की फरमाइश कर सके। यह देखे बिना फोटो खिंचवाना अंधेरे में छलांग लगाने जैसा है।[1] कोट फिट न हो तो उसे रद्द किया जा सकता है, उसका मूल्य देने से मना किया जा सकता है, लेकिन फोटो में ऐसा नहीं हो सकता। इसलिए इस फोटोग्राफी को संपूर्ण कला तक पहुंचाना हो, तो कम-से-कम इतने साधन चाहिए ही।

इसके उपरांत साधारण जनता को इस नियम में एक परिवर्तन करने की खास जरूरत है। कुछ लेखक इस विषय पर चर्चा करते हैं कि पुस्तक पर किसका हक होना चाहिए, लिखे कागजा (पांडुलिपि) पर किसका हक होना चाहिए? लेकिन इस महत्वपूर्ण फोटोग्राफी की तरफ किसी का ध्यान अभी गया नहीं है। मान लें कि 'अ' को अपना फोटो नहीं खिंचवाना हो, फिर भी कोई धोखे से खींचकर प्रकाशित करा ले तो 'अ' कोर्ट से स्टे-आर्डर लेकर उसे रोक सकता है या नहीं? महात्माजी को अपना फोटो खींचा जाना अच्छा नहीं लगता था, फिर भी उनके फोटो खींचे जाते थे, आज भी प्रकाशित होते हैं और उससे लोग कमाई करते हैं। लेकिन महात्माजी तो असहकारी थे, कोर्ट जाकर स्टे-आर्डर कभी नहीं लिया। लेकिन साधारण आदमी को ऐसा हक होना चाहिए या नहीं? आप कहेंगे कि हर आदमी को अपनी प्रसिद्धि अच्छी लगती है और जिसे प्रसिद्धि अच्छी न लगती हो वह आदमी इस विषय की परवाह ही नहीं करता। लेकिन यह ठीक नहीं। मेरे एक मित्र हैं, उन्हें फोटो खिंचवाना अच्छा नहीं लगता। वह कैमरे से दूर भागते हैं।

---

1 अलबत्ता एक तरह से फोटोग्राफी पूरी तरह अंधेरे में छलांग लगाने जैसी ही है। कैमरे में अंधेरा ही किया जाता है और उसमें ग्राहक के चेहरे से परावर्तन हुआ उजाला छलांग लगाता है, लेकिन यहां लाक्षणिक अर्थ में यह वाक्य समझना है।

फिर भी यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्हें प्रसिद्धि अच्छी नहीं लगती, क्योंकि उनके काफी लेख, पत्र आदि देखता हूं जिनमें उनका नाम छपा होता है। ऊपर मैंने साहित्य-कला और फोटो कला का विवेक समझाया है। वैसे कितनों को साहित्य में प्रकाशित होना अच्छा लगता है लेकिन फोटो प्रकाशित कराना अच्छा नहीं लगता? फिर यह प्रश्न तो सबके लिए एक तरह से असर करने वाला है। फोटो में सत्यासत्य का प्रश्न नहीं होता। इसलिए किसी को अमुक पोज प्रकाशित करना अच्छा लगता है और अमुक पोज प्रकाशित करना अच्छा नहीं लगता। जैसे, हमारे मन में बहुत विचार, भावनाएं आदि होती हैं, लेकिन उनमें से हम जितना प्रकाशित करना चाहें उतना ही प्रकाशित करते हैं। उसी तरह एक ही आदमी के अनेक पोज के चेहरे होते हैं, उनमें से अमुक ही प्रकाशित करने हों, दूसरे न करने हों, तो उनका प्रकाशन रोकने के लिए न्यायपूर्वक उपाय होना चाहिए।

एक बार एक फोटोग्राफर मित्र ने मुझे कहा कि फोटोग्राफी कला है, इसलिए किसी व्यक्ति का फोटो मैंने खींचा हो तो वह फोटो प्रकाशित करने का हक केवल मुझे ही होना चाहिए। दूसरा कोई व्यक्ति मेरे फोटो से फोटो खींचकर प्रकाशित नहीं कर सकता। लेकिन इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि फोटो आपका है, लेकिन चेहरा तो दूसरे का है न! आपको या आपके फोटो से फोटो खींचनेवाले दूसरे फोटोग्राफर को, फोटो प्रकाशित होने से रोकने का हक फोटो के विषयभूत व्यक्ति को होना चाहिए न! एक आदमी दूसरे को पत्र लिखता है, तो भले वह पत्र दूसरे के हाथ में गया हो तो भी उस पर हक दूसरे का माना जाएगा। लेकिन उसके प्रकाशन को रोकने का हक मूल पत्र लिखने वाले का होता है। उसी तरह आप द्वारा खींचे फोटो का हक भले आपका रहा, लेकिन उसका प्रकाशन रोकने का हक तो मूल व्यक्ति का ही होना चाहिए। नहीं तो किसी का फोटो कोई खींचकर प्रकाशित करा सकता है न? मैं कहता हूं, यह अन्याय रोकना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक फोटोग्राफी का पूर्ण विकास नहीं होगा।

('स्वैर विहार' से)

4

वसंतावतार

—विनोदिनी नीलकंठ

धीरे-धीरे, अरे जरा धीरे, धीरे! ऋतुओं की महारानी! ऐसा उन्माद! रंग, रस और सुगंध का इतना भी क्या अहंकार! तुम्हारे आगमन से संपूर्ण प्राकृतिक जगत रोमांचित हो उठा है। पशु-पक्षी और वन-उपवन तो क्या, अपने मनोनिग्रह के लिए गरूर रखने वाली मानव-जाति भी तुम्हारे रंग में घुल-मिल जाती है।

व्यर्थ व्यवसाय और प्राप्त कर ली गई गैरजरूरी उपाधियों का भार लेकर मौसम के रंग की तरफ बेचारे मनुष्य कितना कम ध्यान दे सकते हैं? बाकी हर ऋतु तो अपनी-अपनी तरह से भव्यतापूर्वक और सुंदरता लुटाती-लुटाती, हर वर्ष पृथ्वी पर अचूक प्रवेश करती है। वसंतावतार का ठाठ तो सबसे न्यारा होता है।

सबसे पहले तो दक्षिण और पश्चिम दिशा को जोड़ते नैऋत्य कोने से धीमा, हल्का, किसी विरहिणी के निःश्वास जैसा ऊष्मा भरा पवन, वसंतवायु का छड़ीदार बनकर आता है। उस वसंतवायु की मात्र भनक पड़ते ही, आश्चर्यजनक चमत्कार हो जाता है! देखिए, आम के पेड़ बौर से भरकर कितने आकर्षक और लुभावने दिख रहे हैं। शुरू होते वसंत में गदराए आम की सुंदर शोभा के प्रति कोई कवि न्याय नहीं कर सकता। जिसके तमाम पत्ते झर गए थे, उस पीपल के वृक्ष पर शरमाती, लजाती, छोटी-छोटी गुलाबी और लाल कोमल पत्तियां फूटती हैं, उस सौंदर्यान्वित, नवपल्लवित कोमलता की नकल करना किसी चित्रकार के वश में नहीं।

प्राकृतिक उदारता का ख्याल, वसंत में खिलते नीम के पेड़ से आता है। हल्की-हल्की, लेकिन मादक सुगंध भरे बौर नीम के लंबे-चौड़े वृक्षों में छा जाते हैं और चारों दिशाओं में उसकी सुगंध वसंत के आगमन का संदेश पहुंचाती है। मेंहदी के पेड़ में भी अतिशय मीठी सुवास भरी मंजरी फूट पड़ती है और वातावरण को मस्त बनाती है। गुलमोहर का वृक्ष अपनी केसरी और पीले छींटेवाली छतरी खोलकर, ऋतुओं की रानी पर फूलों की छाया कर देता है। पूरे बहार में खिली वसंत की शोभा का अनुभव

करना हो तो पलाश के वन में टेसू की नयनरंजन शोभा देखनी चाहिए। गेरुआ, केसरी और आतश रंग से सारा वन रंग गया हो, तब वन की सुंदरता को देखने वाला चकित-मोहित हो जाता है। एक कवि कहते हैं कि वसंत ऋतु भावुक चित्रकार जैसी है, जो फूल-फूल और पत्ते-पत्ते पर सावधानीपूर्वक बारीकी से रंग भरती है। पलाश के हर फूल की पत्तियों को कुसुमाकर ने जरूर ध्यानपूर्वक रंगा है। रंगने में उसने कोई कसर नहीं रखी है। रंग के तो उसने जैसे कूंडे गिरा दिए हैं।

हम तो उष्ण कटिबंध में बसे हैं, इसलिए हमारी ठंड इतनी असह्य नहीं होती, और इस कारण वसंत के आगमन की खुशी भी हमें उसी अनुपात में कम लगती है। पतझर और भरपूर ठंड में भी हम पक्षी के गीत सुनते हैं, रंग-बिरंगे फूल भी उगे हुए देख सकते हैं, और हरियाली भी बारहो महीने देख सकते हैं। एक तरह से यह हमारा सौभाग्य है। लेकिन दूसरी तरह से भी यह परिस्थिति विचारने जैसी है। कवि कालिदास ने कहा है :

'निर्वाणाय तरुच्छाया नप्तस्य हि विशेषतः।'

यह बहुत सही है। ताप में तपे व्यक्ति को वृक्ष की छाया अधिक सुखमय लगती है, इसी न्याय से जिस प्रदेश में ठंड बहुत अधिक हो, जहां बर्फ की सतत वर्षा धरती को ढंक देती हो, वहां रहते मनुष्यों को वसंत ऋतु का आगमन जितना आव-भगत करने जैसा लगता है, वैसा हमें नहीं लगता, यह स्वाभाविक है। महीनों तक हरे वृक्ष-पत्ते तो क्या, एक हरा तिनका भी जिन्हें देखने को न मिला हो, पक्षी के गीत की ध्वनि तो क्या, जीवंत पक्षी का एक पंख भी जिनकी दृष्टि में न पड़ सका हो, फूल और ताजा फल जो केवल चित्र में या स्वप्न में ही देख पाए हों, वैसे देश में रहते मनुष्य वसंत ऋतु के आगमन के हर्ष से पागल बन जाएं तो क्या आश्चर्य ?

शुरू होते वसंत की पिछली रात में, मौसम का पहली बार पक्षी-गीत सुनने के लिए ठंडे प्रदेश के शौकीन लोगों को रातभर जागरण करते मैंने देखा है। नए उगे नाजुक और लजीले वायोलेट के खसखसी या हल्के लवंडर रंग के फूल जब स्वेच्छापूर्वक, फिर भी मुग्धासुलभ लज्जा से आकुल उपवनों में उग आते हैं तब 'वसंत आया, देखो यह वसंत आया' (Spring is here, look, here is the spring) कहते बालक और युवा ही नहीं, वृद्ध भी हर्ष से नाच उठते हैं। वसंत का वियोग बहुत उग्र रूप में सहने के कारण उन्हें वसंत का आगमन भी उतना ही उमंग भरा लगता है।

हर वर्ष आती, फिर भी नित्य नवीन, चिरयौवना, उल्लासवंती , रूप-रंग और सुगंध भरी महारानी वसंत! तुम्हारे आगमन के कारण सकल जीवंत मृष्टि के हृदय में कैसी खलबली मच रही है! इसलिए धीरे, धीरे! जरा धीरे! ऐसा भी क्या उन्माद? रंग, रस और सुगंध का इतना क्या अहंकार !

('निजानंद' से)

5

वार्तालाप

—उमाशंकर जोशी

रेडियो ने वार्तालाप का एक नया तरीका शुरू किया है। जिसे बोलना है उसका परिचय तो शुरू में ही दे दिया जाता है, लेकिन वह किसके साथ वार्तालाप कर रहा है, यह कौन बता सकता है? संभव है कि वह किसी के साथ वार्तालाप न कर रहा हो। किसी को उस क्षण उसे सुनने का मन या अवकाश न हो। संभव है कि इस समय मैं अपने ही साथ वार्तालाप करने में व्यस्त होऊं।

लेकिन आकाशवाणी वालों को तो कुछ ऐसी आशा रहती ही है कि कोई-न-कोई सुनता होगा। जिसके साथ बात करते होते हैं, उसके चेहरे पर हमारे शब्दों का कैसा प्रभाव पड़ता है—यह जान न सकें तो वार्ता आगे कैसे बढ़ेगी? शामल भट्ट वार्ताओं के बीच अंतरपट रखकर बात करते, यह उस बात की याद दिलाती है। मीलों के अंतरपट के पार किसी-न-किसी के कान जागते होंगे, इस आशा से व्यक्ति को बोलते रहना चाहिए। लेकिन इतना अच्छा है कि अंतरपट के उस पार की आवाज यहां तक सुनाई नहीं देती। बोलनेवाला और सुननेवाला दोनों एक-दूसरे की दया पर निर्भर हैं। यह परोक्षता लाकर रेडियो ने हमें शामल भट्ट के पात्रों की अपेक्षा, विशेषतया, देवों की कोटि में रखा है, यह कहना चाहिए।

"परोक्षप्रियाः खलु देवाः।"—देवों को परोक्ष व्यवहार ही प्रिय है।

हम सब मनुष्य, देवों की यह लाक्षणिकता धारण करते होते हैं। दिन भर हम प्रत्यक्ष दूसरों के आगे जो शब्द बोलते हैं उनकी अपेक्षा कई गुने शब्द मन में और स्वप्न में हम परोक्ष रूप से बोलते रहते हैं। चुपचाप बैठे हों और किसी की दृष्टि अकारण आपके ऊपर पड़े, तो शहद के छत्ते पर जैसे कंकड़ मारा हो वैसे मधुमक्खी की तरह शब्दों का एक पूरा टोला मन में गुनगुन कर गूंजने लगता है। अच्छा है, स्वप्न में हमें कुछ भी करना नहीं होता, हमारा बिलकुल परोक्ष व्यवहार-सा होता है, फिर भी सबके साथ, एक तरह से, प्रत्यक्ष बातें करने की चाह रहती है। वृक्ष, पक्षी, पत्थर बोलते सुनाई देंगे हर

किसी को। हम पुस्तकें पढ़ते हैं तब दूसरों की आवाज परोक्ष रूप से सुनते हैं और कुछ लिखते हैं तब अपनी आवाज सुनाते हैं। लेकिन इन दोनों परोक्ष क्रियाओं में मौजूद देवत्व की अपेक्षा तो प्रत्यक्ष बात कर मनुष्य होना अच्छा है।

मेरी पसंदगी का क्रम कुछ ऐसा है : मैं तो स्वप्न की अपेक्षा जागृति को कम पसंद करता हूं। जागृति में भी, जब तक शांत बैठे रहने को मिले तब तक बातें नहीं करता। जब तक बातें करने को मिले, तब तक पढ़ता नहीं और जब तक पढ़ने को मिले तब तक लिखता नहीं।

निद्रा लेना मनुष्य जाति की शायद सबसे निर्दोष प्रवृत्ति है। लट्टू जब वेग से घूमता हो तब निश्चेष्ट 'सोता' रहता है, ऐसी समाधि दशा पाना, सारी प्रवृत्तियों में, मनुष्य के लिए जरूरी है। लेकिन यह दुनिया नींद की दुश्मन है। और आदमी को जागना ही पड़ता है। जागेंगे भाई, लेकिन फिर तो निश्चिंत बैठने दो। लेकिन नहीं, हम तो अकारण ही आपको जबान का चाबुक लगाते रहेंगे। कोई आपको चैन नहीं लेने देगा। फिर अपने देश में तो बातें ही मुख्य व्यवसाय है। हिंदुस्तान अर्थात गांव। गांव अर्थात चौपाल और चौपाल यानी गपबाजों का अड्डा। मेरे एक मित्र गांव की आर्थिक और खेती विषयक जानकारी प्राप्त करने गए हैं। वे कहते हैं कि मुझे कोई शांति से काम करने नहीं देता। कोई-न-कोई आकर बैठा ही होता अथवा हाथ पकड़कर चाय पीने के लिए ले जाता और दिन बातों में बीत जाता। छात्रालयों में भी इस बात की हवा सतत चलती रहती है। सार्वजनिक संस्थाओं में भी ऐसा ही होता है। बोलने में मनुष्य को शक्ति का ठीक-ठीक व्यय करना पड़ता है, इसलिए तो 'हां' या 'ना' कहने में व्यर्थ छोटी-सी जीभ का उपयोग करने के बदले आदमी आधे मन का सिर इधर या उधर डुलाना पसंद करता है। इतने पर भी अवसर मिलते ही सारा दिन बोल-बोल कर थकता नहीं, यही आश्चर्य की बात है।

इसके बावजूद मनुष्य के लिए यदि मेरा खास आकर्षण है तो उसकी इस वाचालता (garrulity) के लिए भी है। कई बार, खास रूप से बड़े-बड़े ग्रामीण मेले में लाख-दो लाख आदमियों की चहल-पहल में, तरंगों में, शिकर जैसे विशाल झूले में आधा क्षण झूलता होऊं तब, अथवा शाम को किसी पहाड़ी पर से गोधूलि के अंचल के पीछे से उमड़ती ग्राम जनता का हल्का कलरव सुनाई पड़ता हो तब, मुझे विचार आते हैं : सृष्टि के मानवों की आवाजें हमारे आसपास के पशुओं को, पक्षियों को, गिलहरी जैसे जीवों को थोड़ा-सा भी आनंद देती होंगी? देती हों तो कितना अच्छा! न देती हों तो भी मनुष्य जाति को गूंगी तो कल्पित नहीं किया जा सकता। आदमी बोलता है, फिर भी इतना धूर्त है, रहस्मय है; फिर न बोलता हो तो उसका विचार भी नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद कहता है : 'वदन्ब्रह्मा अवदतो वनीयान्'—बोलनेवाला ब्राह्मण न बोलनेवाले से श्रेष्ठ है।

दूसरे प्राणियों की तरह मनुष्य के गले से आवाज निकल सकती है। उसका लाभ

लेकर, उन आवाजों को सही अर्थ दे, मनुष्य ने भाषा का आविष्कार किया और भाषा द्वारा एक आदमी अपना भाव दूसरे आदमी तक पहुंचा सके, ऐसा साधन बना। आदमी बात करता है तब जैसे कि हृदय से हृदेय तक शब्दों का एक पुल बन जाता है। लेकिन खूबी यह है कि कई बार तो पुल के किनारे केवल पग-ध्वनि ही सुनाई पड़ती रहती है। इस किनारे कोई न पहुंचता। बातचीत के द्वारा आदमी अपने आपको जितना व्यक्त करता है, उतना ही छिपाता भी है। शब्दों के जाज्वल्यमान अंचल में अपने आपको छिपाकर बैठे व्यक्ति कहां दिखाई नहीं पड़ते? इसके बावजूद मनुष्य बोले, यही ठीक है। शेक्सपियर के जीवन के बारे में हम खास कुछ जानते नहीं। वह स्पष्ट लेकिन क्वचित् ही बोला है। मात्र, सैकड़ों पात्रों द्वारा उसने बातें कराई हैं। लेकिन उन पात्रों की बातें सुनकर हम उसकी बातों का कुछ तो संकेत जरूर पा सकते हैं। भगवान भी भले ही सीधा संभाषण नहीं करते, फिर भी मानव समुदाय की निरंतर बातों द्वारा वह अपने हृदय को क्या व्यक्त नहीं कर रहे होते? संसार की बातें सुनते-सुनते उसकी आवाज के आरोह-अवरोह भी कभी पकड़ में नहीं आ जाते क्या? मनुष्य मन की बात जरा भी प्रकट नहीं कर पाता तो बेचैन बन जाता है। सहदेव जोशी का मन भरा था और बोलने की मना थी। कैसे बेचैन होते! चेखव ने एक गाड़ीवान की कहानी लिखी है—अपने पुत्र की ताजा मृत्यु के संबंध में सारा दिन गाड़ी में बैठने वालों के साथ बातें कीं, लेकिन किसी ने दाद नहीं दी। अंत में वापस लौटते हुए उसने अपने घोड़े के साथ बातें शुरू कर दी, 'भाई, तुम्हें तो वह, कितना चाहता था! तुम्हें नहलाता, दाना देता, थपथपाता...'और आखिर कोई न मिले तो आदमी अपने आप के साथ बातें कर लेता है।

मेरे एक मित्र स्वयं सुना हुआ एक किस्सा बताते हैं—एक वृद्ध खेत से वापस लौट रहे थे। घर पर आज पुत्र-वधू का प्रवेश होना था, इसलिए छोटे से घर में सब कैसे समा सकेंगे, इस बात की उलझन में पड़े थे, 'मैं ओसारी (दालान) में पड़ा रहूंगा। वृद्धा को पड़ोस में भेज दूंगा। बहन चाची के यहां चली जाएगी। हां, बैठूं! बैठूं?' इस तरह वह वृद्ध पूरे रास्ते मन में बात बैठाते आ रहे थे। खेतों-खेतों में बाड़ न होती तो किसान बातें किसके साथ करते?

मनुष्य बातें ही करता रहे, यह आरोग्य की निशानी नहीं। केवल बातें ही आत्मा का प्रतिकार हैं। हम जानते हैं कि हेम्लेट यानी words, words, words—बातें, बातें, और बातें। अंत में उसके जीवन का नाश हुआ। लेकिन फिर ओथेलो के मुह की तरफ देखिए। जैसे जबान ही न मिली हो! वह इतना शांत है। इतना शांत रहने से भी वह सर्वनाश को आमंत्रित करता है। आदमी दिमाग में ताला लगाकर घूमे तब तो उसे भय ही समझना। श्वेतकेतु पढ़-लिखकर घर आया। वह बहुत कम बोलता था। गंभीर चेहरा लिए फिरता था। पिता को चिंता हुई। शांत रहकर पिता ने पूछा, "भाई, तुम पढ़-लिख कर आए हो तो बताओ तो सही कि ऐसा क्या है जिसे जानने से सबकुछ जाना जा

सकंता है।" फिर तो भाई की बेवकूफी प्रकट हुई। ऐसे श्वेतकेतुओं की कमी कभी नहीं होती। मनुष्य मुंह फुलाए फिरता है, ऐसा हम कहते हैं। इसका अर्थ भी यही है कि थोड़े शब्द कहने हैं, उन्हें उसने मुंह में भर रखे हैं।

लेकिन आदमी बलात बातें करे, यह भी अच्छा नहीं लगता। यूरोप की एक सामाजिक आदत हमारे उच्च संपन्न वर्ग में विकसित होती जा रही है : मेहमानों के साथ विनम्रतापूर्वक तथा मिठास से बात करने की प्रथा—जैसे इस बात की शिक्षा ही उस वर्ग के बालकों को दी जाती है। पूरी सुघड़ता के साथ सजा-संवरा व्यक्तित्व दूसरों के सामने रखकर अच्छा प्रभाव डालना—इसके द्वारा कोई-न-कोई हेतु साधना, यही उनका आशय होता है। जापान ने संसार में अपनी पैठ मजबूत करने में महिलाओं की मदद ली थी। राजनीति में आकर, व्यक्तित्व को निरर्थक, किंतु मधुर बातचीत की चमक देने की रीति उपयोग में ली जाती है। हाल में ही एक नेता को सन्नारी ने विनय भरी बात के लिए बुलाया था। फिर उसके पति अचानक ही उस भाई से मिले, मुलाकात की योजना ऐसे ही बनी, लेकिन वह भारी कड़वाहटभरी सिद्ध हुई। उस भाई ने इसलिए ही निमंत्रण दिलवाया होगा। लेकिन फिर उस सन्नारी के साथ मित्रता भरी बातचीत हुई और मेहमान विदा हुए। दूसरे क्षेत्र की बात करें। हमारे यहां भी जीवन अब सरल नहीं रहा, भारी संकुलताएं उत्पन्न हुई हैं। युवा महिलाओं को किसी-न-किसी काम के बहाने दूसरों से मिलना होता है। तटस्थ होकर केवल 'बिजनेस' की बात करते-करते भी आशय तो उन दो क्षणों के साथ का रस लूटने का होता है और ऐसे उदाहरण अब दुर्लभ नहीं। अन्यथा वार्तालाप करते समय तो मनुष्य के मौन में बहुत बार बहुत-बहुत बातें होती हैं। मुझे एक प्रसंग याद है : कुछ युवा स्त्री-पुरुष साहित्य की, कला की, जीवन की, संसार की बातें कर रहे थे। एक सन्नारी पलक गिराए बिना मौन बैठी थी। शायद उस प्रसंग पर उसने ही सबसे अधिक संभाषण किया था।

मुझे तो किसी भी तरह की बात से ऊब नहीं होती। जिसे चिपकू कहते हैं उससे मैं जरा-सा भी नहीं घबराता। भारी-से-भारी थका डालने वाले व्यक्ति के सामने मुझे खड़ा कर दें, मैं तो उसका वाङ्मधु गटगट पीता रहूंगा। एक बार ऐसा ही एक सज्जन और मेरे साथ हो गया था। तभी वहां मेरे भाई और एक मित्र आ पहुंचे। पांच मिनट के साथ से ही दोनों बेहोश होकर गिर पड़ेंगे, इस डर से चले गए! एकाध घंटे बाद फिर आए। हमारी बातें तो प्रियजनों की बातों की तरह चल ही रही थीं। मेरी एम.ए. की परीक्षा के समय मेरा समय न खराब हो इसलिए भाई ने 'समय खराब न करें' का बोर्ड दीवार पर टांग दिया था। जो मित्र आता वह सहानुभूति जताता। हमारे देश के लोगों के मन में समय की पवित्रता रहती ही नहीं। हमारे यहां तो सुबह-सुबह लोग इस तरह मिलने चले आते हैं जैसे हम उनकी राह देखते बैठे हों। भारी तकलीफ है ऐसा मित्र कहते जाते और बातों में समय नहीं खराब करना

चाहिए, इस विषय पर ही मेरा चौथाई घंटा तो बरबाद कर ही देते। मैंने भाई से प्रार्थना कर वह बोर्ड हटवा दिया।

बातों से ऊबने का कुछ कारण? स्वयं चलकर आपके साथ बातें करने कोई आए, यह भाग्य कहां? जबकि पेंशनरों को पूना में किसी छोटी पहाड़ी पर और अहमदाबाद में पेड़ के नीचे एक साथ मिलकर मक्खी मारते तो नहीं, पर व्यर्थ समय बिताते देखते हैं। तब हमें लगता है कि एक समय जो क्लासों, कार्यालयों या सभाओं को गुंजारित करते थे उनके साथ उनके घर के लोग भी बात करना टालते हैं और सब एक-से दुखी लोग इस तरह जीवन पूरा करते हैं! आप उनके साथ एक वाक्य बोलें तो उसे पकड़ करके आपके साथ-संग का पूरा सार निकाल लेंगे। इसलिए ही, मुझे लगता है कि कोई भी आदमी हमारे मुखारविंद को देखकर बोलने के लिए लालायित होता है तो यह उसका हम पर कम एहसान है? यह समझिए कि वह हम पर अपने विचार लादना चाहता है, फिर भी आपसे वह कुछ पा सकेगा, ऐसा वह मानता है। वह आपके लिए छोटा-सा प्रमाण-पत्र है? वृद्धों या असमय हुए वृद्धों की आत्मकथाएं हम सुनें, तो भी क्या? कोई दुखी-दग्ध व्यक्ति दो क्षण आपके आगे अपना दुख रो कर चला गया, उससे क्या बिगड़ गया? कोई हीनग्रंथि से पीड़ित हो और आप पर कुछ देर रोआब डालकर अपने में आत्म-विश्वास उत्पन्न कर सकता हो तो उसे ऐसा करने देने में आपका क्या गया? गंगा में कोई पत्थर फेंके, कपड़े धोए, कूड़ा डाले, ऐसा कर वह यदि संतुष्ट होता हो, निरोग होता हो तो गंगा का क्या बिगड़ा? स्त्रियां अपने पतिदेवों के मुख से आफिसों की, बाहर की अनेक पेचीदा बातें, बहुत बार तो जरा भी समझ न आए फिर भी कितने अटूट धैर्य से सुनती रहती हैं! बहुत बार तो हमारा कुछ नहीं जाता और सामने वाले को आराम मिल जाता है। एक साक्षर के बारे में, उनके यहां ठहरे एक विद्वान द्वारा कही बात मुझे याद आती है। शाम को एक भाई मिलने आए वैसे ही वह साक्षर उन पर टूट पड़े और किसी चर्चास्पद मुद्दे पर बहुत जोर से गरजे। दूसरे दिन सुबह उठकर मेहमान ने उस शिक्षित से कहा कि कल शाम मिलने आए भाइ को आपने बहुत कुछ कहा! सुनकर वे बोले, "यह तो ठीक है, पर नींद अच्छी आई!" हमारी बातों का अंत नहीं हो सकता, लेकिन इस रूप में जगत में कुछ स्वस्थता, शांति और संवादिता स्थापित होती हों, तो हमें क्या आपत्ति होगी?

मुझसे पूछिए तो मैं तो बातों से ही सीखता हूं अर्थात मनुष्यों से। पुस्तकें पढ़ते हैं, वह तो ताल मिलाने के लिए। बोले जाते शब्दों में जो जादू है वह तो अलग ही है। साहित्य में भी इसी कारण नाटक की महिमा है। इसमें शब्द को आदमी की जबान पर रनकते हुए प्रस्तुत किया जाता है। अब, यदि बातों से सीखने निकले हों तो इसके साथ बात करें और इसके साथ न करें, यह कैसे हो सकता है? हमें क्या पता कि किसकी जबान पर हमारे लिए शब्द सरक आएंगे? परमेश्वर किसके द्वारा बोलेंगे—कौन कह

सकता है? अपने आपको समझने के लिए भी दूसरों की बातों का कम उपयोग नहीं। शिक्षक जानते हैं कि जैसे विद्यार्थी वैसी अपनी वाणी। सामने वाला आदमी यदि तेजस्वी हो तो आपका भी उत्तम स्वरूप बाहर आने का प्रयत्न करेगा ही। बहुत बार हमें अपनी वाणी सुनकर ताज्जुब नहीं होता? तिजोरी में यह धन किस कोने में इतने दिनों तक पड़ा रहा, यह हमें उस समय मालूम नहीं होता? यह हकीकत ही हमारे साथ बात करने वाले का महत्व बताने के लिए काफी है। तिजोरी की चाभी आपके पास है ही कहां? आपको तो जो आदमी मिलता है उसके साथ आप बातें करने लग जाते हैं और कभी, ऐसे हजारों उपाय आजमाने के बाद संभव है, कोई चाभी लग ही जाए। फिर आपके जैसा भाग्यवान कोई नहीं।

'किसके सान्निध्य में हृदय ऐसा तो खुल जाता है,
जैसा एकांत में खुला, अपने भी पास नहीं?'

यह 'कोई' आपको मिल गया तो आपको बातें करने आई।

कई बार यह चाभी स्वयं अपने पास भी मिल जाने का भय होता है। सिंहगढ़ में काकासाहब द्वारा एक बार डायरी में लिखवाया एक वाक्य मेरे हृदय में बस गया है : "प्रभु बहुत दयालु है। बहुत बार उसने मुझे मेरे द्वारा ही बोध दिया है।" मनुष्य अपने साथ मन में बात करता होता है, उसका इस दृष्टि से बहुत महत्व माना जाता है।

मुझे बहुत बार ऐसा लगता है कि मनुष्य सारा समय अपने आपसे बात कर रहा नहीं होता? मुंह खोलकर वह बोलता है तब भी जैसे प्रेमी किसी की भी आवाज में प्रियतमा का स्वर सुनता है वैसे वह सबको बातों में अपना ही 'स्वर' सुन रहा होता है, मनुष्य का सबकुछ ही जैसे एक अखंड आत्मसंभाषण न हो! कभी तो वह भाषा को—शब्दों को भी छोड़ देता है। शब्दों के ढांचे में उसकी बात समाती नहीं, उफन जाती है और केवल स्वर रूप में—संगीत रूप में वह बाहर आती है। संगीत मनुष्य का आत्म संभाषण नहीं तो दूसरा क्या है? बातचीत में भी, मनुष्य के शब्दों की अपेक्षा उसकी आवाज में ही ज्यादातर अर्थ समाया नहीं होता? बहुत लोग बोलते हैं तब उनका व्याकरण उनके कथ्य में से नहीं, बल्कि उनकी आवाज के उतार-चढ़ाव से जाना जा सकता है। कोई-कोई व्यक्ति, जब बातचीत की नाव की पाल गिर जाती है तब मुंह से सीटी बजाकर गीत गा लेते हैं। घर की लजालु, कम बोलनेवाली सभ्य कन्या किसी पुराने या प्रचलित गीत की पंक्ति में अपनी तमाम इच्छाएं उड़ेल देती है। हम स्वयं बोलते हैं तब किसकी उपस्थिति में गले में घूंट उतर जाता है, हमारे काबू के बाहर अमुक अस्पष्ट उद्गारें-आवाजें निकल पड़ती है, यह सब अच्छी तरह ध्यान से देखने जैसा है। हमारी छिपी जात कभी 'मैं तो यह हूं।' कहती अचूक स्वयं बता देती है। इस तरह शब्द की मदद से बात चलती होती है, लेकिन संप्रति बात का मर्म तो शब्द से बाहर ही ढूंढ़ना होता है। एक 'हं!' उद्गार का अलग-अलग प्रसंगों पर कैसा उपयोग होता है उसका

अकेले-अकेले अभिनय कर देखने जैसा है। गोर्की कहते हैं कि 'हं!' का अनेक प्रसंगों पर प्रभावशाली प्रयोग करना लेनिन की खास आदत थी।

हर व्यक्ति एक द्वीप जैसा है। उसके आसपास वार्तालाप की लहरें टकराती रहती है और इस तरह उसका एकाकीपन कुछ सह्य हो जाता है। ऐसा न हो तो वार्तालाप केवल शोरगुल है। उससे बचने के लिए आदमी अपने अंदर भागता है और पुकारता है–

'मेरे इस मौन सरोवर में यह
कोई फेंकना नहीं यहां शब्द-कंकड़ी!'

और मौन जब इतनी माथापच्ची न करे, मनुष्य अपने साथ बात करते-करते चैन पा जाए, तब तो उसके कान में परमेश्वर ही बात कर रहा होता है।

(*'गोष्ठी'* से)

6

मद्रास का मछली-घर

—सुंदरम्

मद्रास में एक बहुत रमणीय चीज है। मद्रास के रमणीय समुद्र-किनारे, 'मरीना' नाम से प्रख्यात सुंदर रास्ते पर, समुद्र की रेत पर वह स्थित है। वह है 'एक्वेरियम' अर्थात मछली घर।

वह एक छोटा समकोण चतुर्भुज (रेक्टेंगल) मकान है। एकदम साधारण दिखता, लेकिन अंदर जाते ही उसका जादू हमें लगने लगता है। उसके उत्तर-दक्षिण की आमने-सामने की दीवार के बीच जमीन से तीन फुट ऊंची, सात फुट लंबी, मोटे पारदर्शक कांच के बंद दरवाजे वाली, पानी से भरी टंकियों में, कमरे के बीच के हौज में, तथा बीच-बीच में टेबुल पर रखी टंकियों में, समुद्र की सुंदर बस्ती को बसाया गया है।

समुद्र के विशाल पानी में तथा अलग-अलग परिस्थिति में रहनेवाले जलचरों को यहां बंद पानी में रखना कोई सरल काम नहीं। इसके लिए हर तरह के जलचर-जीवन का अध्ययन होना जरूरी है। यह मछलीघर ट्रस्ट के हाथों चल रहा है। यहां का सरकारी मत्स्य-विभाग इसकी हर तरह से व्यवस्था करता है।

हम गुजरातियों को जलचरों के जीवन का प्रत्यक्ष परिचय नहीं है। समुद्र किनारे की मछली खानेवाली बस्ती इस विषय में थोड़ा बहुत जानती होगी। लेकिन अपने ज्ञान का लाभ वह हमें दे नहीं सकती। हम तो इतना ही जानते हैं कि समुद्र में मछली रहती है। कुछ पढ़े-लिखे लोग कॉड, व्हेल, शार्क या कालु मछली के नाम जानते हैं, लेकिन पृथ्वी पर मनुष्यों की जितनी जातियां हैं या प्राणियों की जितनी जातियां हैं उनसे भी अधिक इन मछलियों की जातियां हैं, यह बात हमें कहीं से जानने को नहीं मिलती। मछलियों में अनेक जातियां होने के बावजूद, उनमें से कितनों की जीवनचर्या अद्भुत, कौतुक भरी होती है और सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि उनका रंग-सौदर्य भी फूलों और तितलियों के रंग-सौंदर्य से आगे निकल गया लगता है।

समुद्र में रहती मछली के जीवन के विषय में अनेक आश्चर्यजनक हकीकतें जानने को मिलती हैं। लेकिन उन्हें ऐसी बंद जगह में रखने मे भी कुछ अजब हकीकतें जानी जा सकती हैं। कितनी ही जातियां बहुत तूफानी होती हैं तो कितनी ही मजाकिया होती हैं, कुछ शिकारी होती हैं तो कुछ झगड़ालू होती हैं, और कुछ तो ऐसी होती हैं कि एक जाति की दो मछलियां एक साथ रह ही नहीं सकतीं। विशाल समुद्र में तो सबको भगवान ने यथेष्ट जगह दी है। लेकिन इस संकरे स्थान में समावेश करने का काम मछलियों तथा यहा के व्यवस्थापकों, दोनों के लिए कठिन है। फिर यहां एक जगह में ही रहने से उनकी आहार की आदत भी बदलती है, उन्हें रोग भी होते हैं, कुछ मर भी जाती हैं और कुछ को हवा-फेर के लिए...नहीं, भूल गया, पानी-फेर के लिए वापस समुद्र में छोड़ देने पर वह स्वस्थ भी हो जाती हैं।

दूसरी एक आश्चर्य की बात है। यहां रहकर ये मछलियां मनुष्यों को भी पहचानने लगी हैं। उस बीच के हौज में रहनेवाली मछली के पास खड़े रहकर आप रूमाल हिलाएं तो उसे पकड़ने के लिए वह उछलने-कूदने लगती हैं। उन्हें जरा बारीकी से देखने के लिए आप उसके पास अपना मुंह ले जाएं तो जैसे आपकी नाक भी काट सकती हैं। उस एक टंकी में रहनेवाली मछलियों को यहां का रसोइया जब खाना देने जाता है तो तुरंत दौड़ा-दौड़ करने लगती हैं। लेकिन इससे भी अधिक रसिक बातें तो प्रत्येक के जीवन के विषय में हैं। हम इनमें से कुछ खास-खास जानकारी पा लें।

हम बाईं तरफ से देखना शुरू करें। इस पहली टंकी में शरीर को मरोड़ते समुद्र सांप हैं। इनका जहर नाग से भी कई गुना तेज है। लेकिन ये जरा आलसी होते हैं, इसलिए जब तक उनके प्राणों पर नहीं आ पड़ती तब तक ये काटते नहीं। इनका रंग कुछ खास आकर्षक नहीं होता। लेकिन इस एक को काली और सुनहरी दाढ़ी निकलती है, उसे देखिए। यह सबसे जहरीला सांप है, इस बात की चेतावनी देने के लिए ही प्रकृति ने यह लक्षण उसमें रखा है क्या?

इस दूसरी टंकी में 'शार्क', 'डाग', 'रे' और 'ईल' नाम की मछलियां हैं। शार्क मछली आदमियों को खा जाती है, यह तो बहुत लोग जानते हैं। लेकिन वह ज्यादातर गहरे पानी में रहती है। बड़ी शार्क मछली तो चाहे जो कुछ भी खा जाती है। एक बार एक शार्क के पेट में से पंखों (पक्षियों के) का एक बड़ा ढेर निकला। वह क्या होगा? पंखों का तकिया! लेकिन यहां तो पंद्रह-पंद्रह फुट की बड़ी मछलियां नहीं हैं।

देखिए, इस शार्क के शरीर की रेखाएं और उसका हिलना-डोलना कितना मनोहर है। उसका पेट सफेद और पीठ पर काले स्याह रंग की छाया है। इनकी बहुत जातियां हैं। इनमें एक बाघशार्क तो बाघ की तरह, खूब भड़काऊ रंगवाली होती है। दूसरी एक शार्क 'घणमथ्थी' (हथौड़े के सिर जैसी) कही जाती है। कारण? उसका सिर देखिए तो जैसे बड़ा घन (हथौड़ा) ही हो।

चौरस थाली जैसे शरीर वाली 'रे' मछली को टंकी के तल में ही बैठी देखेंगे। वह समुद्र के तल में ही रहनेवाली है तथा तल के रंग के साथ मिल जाए, ऐसा उसका रंग है। इनमें एक विद्युतकिरण जाति की मछली है। इसे छूने पर आपको बिजली की तरह झटका लगेगा। इस तरह की खूबी उसकी पूंछ में है। लंबी चाबुक जैसी पूंछ में आरी जैसे कांटे होते हैं। उसकी पूंछ की चोट जिसे लगती है, उसे खूब कष्ट होता है।

'ईल' मछली तो सांप जैसी लगेगी। लेकिन उसकी पीठ पर कलगी जैसी लंबी झालर उगी है। वह उसे सांप से अलग करती है। मछलियों में 'ईल' की जीवन-कथा सबसे अधिक आश्चर्यजनक है। उसका जन्म किनारे से दूर काफी गहरे पानी में होता है। जन्म के समय उसका आकार एक पारदर्शक पत्ते जैसा होता है। वह जैसे-जैसे बड़ी होती जाती है, वैसे-वैसे किनारे की तरफ आती जाती है। वहां से वह किसी नदी के मुंह के पास पहुंच जाती है। उसके जैसी दूसरी बहुत-सी 'ईल' मछलियां वहां आ गई होती हैं। यहां से वह समूह बनाकर नदी में आगे बढ़ती हैं और छोटे झरनों तथा तालाबों में जाकर रहती हैं। वहीं वह पुख्त कद की और वय की बनकर सांप जैसा आकार धारण करती हैं। कितने वर्ष इस तरह समुद्र से दूर रहकर, काफी कष्ट झेलकर वह वापस समुद्र में पहुंच जाती हैं। यह समय उसके जीवन का वसंत होता है। अब उसका सौंदर्य बढ़ जाता है। शरीर पर रूपहली चमक आ जाती है और यहां आकर वंशवृद्धि कर वह यहीं समुद्र में ही जीवन समाप्त करती है।

यहां एक दूसरी 'धावणी' (sucker) मछली है। उसके सिर पर एक अंडाकार ढांचे में आड़े पड़े कितने ही चौकोर टुकड़े होते हैं। उसके द्वारा वह जहाजों, व्हेलों तथा शार्क जैसी बड़ी मछलियों से चिपक जाती हैं और फिर खिंचती चली जाती हैं। 'धावणी' को तैरने की मेहनत ही नहीं करनी पड़ती। यह इतनी बलवान होती है कि आधा मन पानी से भरी बाल्टी भी वह उठाए रख सकती है। हां, उसे अंदर से बराबर पकड़ मिलनी चाहिए। एक समय वेस्टइंडीज के मछुआरे उनका उपयोग दूसरी मछलियों को पकड़ने में करते थे। उनकी पूंछ में डोर बांधकर उसे पानी में छोड़ते और वह किसी बड़ी मछली से या कछुए से जा चिपकती और मछुआरे डोर खींचकर उस शिकार को पकड़ लेते।

तीसरी टंकी में अत्यंत सुंदर मछलियां हैं। लेकिन उनमें रूप की रानी तो वह पतंगिया मछली (Butterfly) है। उसके शरीर पर सफेद और काले रंग की धारियां होती हैं और पंख पीले होते हैं। लेकिन उसकी असली पहचान तो उसकी कलगी है। उसकी पीठ के पंख में से एक लंबी कलगी निकलकर उसे अद्‌भुत आकर्षण देती है। परंतु उसका दुर्भाग्य यह है कि उसकी पड़ोसी मछलियां उसकी उस आकर्षक कलगी को प्रायः काट ही डालती हैं।

उसके साथ रहती मोती-छाप (Pearl-Spot) मछली भी कम सुंदर नहीं है। उसके संपूर्ण अंग पर मोती जैसी आकृतियां होती हैं। ये मछलियां ज्यादातर शाकाहारी हैं,

इसलिए तो तालाब तथा टंकी का पानी साफ करने के लिए भी इनका उपयोग किया जाता है। भोजन के काम में आने के कारण यह बहुत कीमती होती हैं। यह विचित्र तरीके से आराम करती है। दो पंख और तीसरी पूंछ, इन तीनों की तिपाई बनाकर उस पर वह बैठती है। इसकी विचित्रता तो देखिए। उसके गाल पर एक-एक सफेद चांद है। फिर इस दूसरी डील-डौलवाली ताकतवर मछली का रूपहला रंग आपको अच्छा लगेगा। इसके दोनों पंख इतने लंबे हैं कि लगता है उसकी तीन पूंछ हों।

चौथी टंकी की मछलियां भी तीसरी टंकी की मछलियों जैसी सुंदर हैं और कुछ तो विशेष आश्चर्यजनक हैं। उनमें एक मछली 'ब्ल्यू फाइल' (Blue file) तुरंत हमारा ध्यान खींचती है। उसकी पूंछ दूज के चांद के आकार की होती है। उसकी आकाश जैसी काया बहुत सुंदर है और हमारी नववधू की तरह उसके दांत भी सुंदर लाल-सुर्ख हैं। लेकिन उसकी सबसे खास पहचान तो उसकी पीठ पर एक लालटेन जैसी हड्डी है। उसे यह जब चाहे, ऊंची कर सकती है और वापस पीठ के गड्ढे में डाल सकती है। इतनी सुंदरता के बावजूद वह यादवों की जाति की है। दो मछलियां एक साथ रह ही नहीं सकतीं। साथ में रहीं तो अंदर-अंदर ऐसी झगड़ती हैं कि एक के मरने पर ही उनका छुटकारा होता है। फिर अपना यह जोश अपने से बड़ी मछलियों को मारने में भी लगाती हैं। एक ने तो एक फुट की शार्क को भी मार डाला था।

पांचवीं टंकी में 'स्नैपर' (डंक वाली) नाम की बहुत आकर्षक मछली है। यह समुद्र से लाई जाती है। तब इसका रंग काफी भड़कीला होता है। उसके शरीर की बर्फ जैसी सफेदी पर हल्का कीरमजी रंग का असर शोभा दे रहा होता है। कुछ समय बाद वह कीरमजी रंग गहरा गुलाबी हो जाता है। फिर भी, उसका रूप तो वैसा का वैसा ही रहता है। जब वह उत्तेजित होती है, तब उसका सफेद रंग गुलाबी रंग में बदल जाता है। खाने के समय भी भोजन पाने के आवेश में उसका रंग गुलाबी हो जाता है।

छठी टंकी में तरह-तरह की काफी मछलियां इकट्ठी रखी गई हैं। उनमें एक का नाम बकरी (Goat-fish) है। पशुओं में जैसे बकरा वैसे ही मछलियों में इस जाति की मछलियों का भोजन में काफी प्रयोग होता है। उसकी दाढ़ी के नीचे दो सख्त चिमटे जैसे अवयव हैं। वह जब बैठी होती है तब ये चिमटे तिरछे झुककर खाने में बैठ जाते हैं। उनका उपयोग वह भोजन ढूंढने में तथा रेत खोदने में करती है। लेकिन जब वह धीरे-धीरे चलती होती है, तब वे चिमटे पांव की तरह बारी-बारी से हिलते हैं और ऐसा लगता है जैसे वह उन्हीं की सहायता से चल रही हो।

इससे बड़ी और अधिक आकर्षक एक दूसरी जाति की 'पतंगिया मछली' है। विशाल वृत्त में रहती समुद्री मछलियों में इसका रंग सबसे गजब का दमदार है। सामान्य रूप से छोटी होती हैं। लेकिन इनमें शहेनशाह मछली एक फुट की होती है। 'तिनवेली' के समुद्री किनारे इसे 'धोबण' कहते हैं। अपनी सुंदरता के कारण वह सबकी नजर

अपनी तरफ खींचती है, इसलिए ही क्या? जितनी तितलियों की जाति हैं उतनी ही इस मछली की भी जाति हैं—तरह-तरह के रंग और तरह-तरह के आकार।

यह दूसरी 'शीटोडोन' (Chaetodon) नाम की मछली ने अपने रंग के आकर्षण के कारण संसार के सभी मछलीघरों में मानभरा स्थान पाया है। इनकी एक जाति की पूंछ पर भी दोनों तरफ आंख जैसा निशान होता है। इसलिए इसे लोग 'चतुरक्षिणी' भी कहते हैं। हम इसे 'सेवक' मछली कहेंगे। भैंस के सींग में से कीड़े बीनने वाले पक्षी की तरह, बड़ी मछलियों के पेट में चिपके कीड़े खाने की इसे आदत होती है, इसलिए बड़ी-बड़ी मछलियां खुशी से इन्हें ऐसा करने देती हैं।

इसके पास ही, तुरंत ध्यान खींचने वाली मछली, 'स्पाइन टेल' पुट्ठे की बनी हो वैसी, चिपटी होती है। हलका भूरा रंग और ऊपर पीली रेखाएं। कितनों के शरीर पर बादामी रंग पर भूरे रंग की तरंगित रेखाएं होती हैं। लेकिन इसका नाम 'स्पाइन टेल' तो उसकी पूंछ पर दोनों तरफ खुलते-बंद होते ऐसे तीर के कारण पड़ा है। यह उसका सबल हथियार है।

सातवीं टंकी में एक गजब की शानदार मछली है। उसे 'रसेल की बिच्छू मछली' (Russel's scorpion fish) कहते हैं। इस मछलीघर में इससे अधिक रसिक मछली दूसरी नहीं। जैसे मुर्गा ही देख लिया हो। इसके पंख और अगल-बगल के स्नायु जरूरत से अधिक बढ़े होते हैं। उसके शरीर पर जो सफेद-बादामी-लाल रंग है वह उसकी आंखों में तथा लंबे कांपते पंखों की ऊंचाई तक है। ये मछलियां होती हैं जरा आलसी। बहुत धीरे चलती हैं। धीरे-धीरे उड़ती-फिरती तितलियों की तरह उसके हलके फड़कते रंगीन पंख जैसे देखते ही रह जाएंगे। यह मछली अपना रूप सब तरफ से दिखलाने के लिए रुक-रुककर धीरे-धीरे चक्कर लगाती है।

पास ही रहती दूसरी कई मछलियों में एक शिकारी मछली (Angler fish) काफी कौतुकभरी है। उसके सिर पर मछली पकड़ने वाली छोटी लकड़ी जैसी एक छोटी सफेद कलगी वाली हड्डी है। यह मछली पानी के पौधों में अपना सारा पीला शरीर छिपाकर स्थिर बैठ जाती है—वह इस तरह कलगी हिलाती-उछालती रहती है जैसे बाघ जाल में बैठा हो। उससे जो आकर्षित हुआ उसकी तो मौत ही समझिए। कोई मछली उसका यह कौतुक देखने के लिए पास आई कि उसके जबड़े बिजली के वेग की तरह काम करने लगते हैं। इस कलगी वाली हड्डी के नीचे ही उसका मुंह खुला हुआ तैयार रहता है। शिकार को तुरंत निगल जाती है। समुद्र में तो शिकार उनके पास स्वयं ही चला आता है, लेकिन यहां टंकी में यह कैसे संभव हो सकता है? यहां दिया जाने वाला भोजन तो दूसरी चपल मछलियां ही झपट लेती हैं, और यह तो बैठी ही रह जाती है। इसलिए इसके लिए एक तार में भोजन बांधकर उसके सिर पर लटकाना पड़ता है। फिर भी कई बार जब तक वह भोजन लेने का विचार करती है, उतनी देर में तो दूसरी मछली आकर वह

छीन ले जाती है। इस तरह कई बार उसे उपवास करना पड़ता है।

आठवीं टंकी में सबसे अधिक ध्यान खींचने वाली 'फूलण' (Puffer) मछली है। जब वह डरती है तब हवा या पानी अपने शरीर में भरकर गोल गुब्बारे जैसी बन जाती है। उसकी चमड़ी पर के कांटे तन जाते हैं। जैसे समुद्र की शाहुडी ही देख ली हो। इसका मुंह तोते जैसा होता है। यह डंकवाली और झगड़ालू होती है। अंदर-अंदर लड़ती रहती है और कोई कमजोर या बीमार मछली आ गई तो उसके घूमते झुंड में मिलकर उसकी पूंछ, पेट, पंख, नाक, मुंह आदि जहां से भी चाहे काटकर उसे साफ कर जाती है।

नौवीं टंकी कई तरह की मछलियों से भरी है। लेकिन इन मछलियों में कुछ दूसरी विशेषता भी है। इसमें एक 'चिपटी मछली' है। उसे एक करवट सोने की आदत है। जिस करवट वह सोती है, उस तरफ का रंग सफेद हो जाता है तथा उस तरफ की आंख भी गायब हो जाती है। उसका प्राकृतिक रंग तो समुद्र के तल जैसा ही होता है।

और यह 'म्युलेट' (mullet) जाति की मछली प्रायः शाकाहारी है, इसलिए जैसा कि हमने 'मोतीछाप मछली' के बारे में कहा है वैसा ही इनका उपयोग भी पानी की स्वच्छता के लिए किया जाता है। एक दूसरी जाति की मछली 'बिल्ली-मछली' (cat-fish) है। उसके मुंह पर बिल्ली की जैसी मूंछ होती है। वह बड़े समूह में रहती है। मलाबार के समुद्री किनारे पर ताड़ी के दुकानदार ग्राहक को प्यास लगने पर प्रायः ताड़ी पिलाते हैं और इस मछली के सिर में मसाला भरकर उन्हें मुफ्त खिलाते हैं। इस जाति की नर मछली मादा मछली के अंडे अपने मुंह में रखती है और वहीं उनके बच्चे जन्म लेते हैं। अंडे का आकार भी आधे इंच के व्यास जितना होता है। इसलिए इनकी संख्या बहुत कम होती है। जब तक अंडों में से बच्चे उत्पन्न नहीं हो जाते, तब तक बेचारी नर मछली को उपवास ही करना पड़ता है।

हमने काफी मछलियों को उनकी परिस्थिति के अनुसार उत्तेजित होने पर रंग बदलते देखा है। लेकिन ऐसी रंग बदलने वाली उत्तम मछली यहां भी है। सुबह ये मछलियां (sea-perch) लगभग सफेद होती हैं, लेकिन शाम तक तो इनका रंग हल्का गुलाबी हो जाता है।

यहां एक और बहुत सुंदर नीलवर्णी मछली है। इसकी विशेषता यह है कि उसका रंग उम्र के अनुसार बदलता है। बचपन में उसके पंख और ऊपर का जबड़ा चमकदार पीले रंग का होता है। वह जैसे-जैसे बड़ी होती जाती है, वैसे-वैसे यह रंग हल्का होता जाता है। और पुख्त होने पर तो यह एकदम गायब हो जाता है। इन तीनों स्थितिवाली मछलियां यहां हैं। उनकी रंग-लीला कुछ अजब आनंद देती है। उनके रंगों की खूबी के आगे तो अच्छी-भली फैशन करने वाली नारी भी फीकी लगेगी।

दसवीं टंकी में रहने वाली मछली (sea-perch) इस मछलीघर की सबसे पुरानी निवासी है। ग्यारह वर्षों से वह यहां है और एक सुधरी हुई प्राणी बन गई है। शाम होते

ही वह तल में जाकर नियम से सो जाती है। वह डांग मछली तो आंखें भी बंद कर लेती हैं। कितनी मछलियां पानी के ऊपर ही स्थिर होकर सो लेती हैं। कुछ तो सोती ही नहीं। रात में भी वे दौड़ लगाती होती हैं। इसलिए उनकी टंकी में रोशनी जलाकर रखनी पड़ती है। नहीं तो अंधेरे में दीवार के साथ टकरा-टकराकर ही वह मर जाती हैं।

हमने टंकियां देख लीं। अब टेबुल पर रखी टंकियों में रहते प्राणियों की तरफ घूमें। बड़ी टंकियों में उन खास मछलियों के साथ न रह सकने वाले कितने ही नाजुक जाति के प्राणी रखे हैं। उनमें मुख्य रूप से वे प्रख्यात आक्टोपस यानी अष्टपाद, विचित्र केकड़े, तारक मछली, दरियाई घोड़ा, काफर और दूसरी कितनी ही मछलियां हैं।

दरियाई घोड़ा तो मशहूर है। वह होता है तो चार-पांच इंच का ही, लेकिन उसका आकार बहुत आकर्षक है। ऊपर का आधा शरीर घोड़े जैसा और नीचे का सांप जैसा होता है। किसी समुद्री पेड़ की डाल से पूंछ लपेटकर सीना ताने गरदन हिलाता यह जब तब बैठा ही रहता है।

उस दूसरे टेबुल पर चार अंगुल की छोटी मछली है। आपको लगेगा कि दूसरी मछलियां उसे खा न जाएं, इसलिए इसे यहां अलग रखा होगा। लेकिन नहीं, हकीकत इससे उल्टी है। इसका नाम है 'काफर' (Coffer) और यह सचमुच काफर (दुष्ट) है। इसके दांत इतने मजबूत हैं कि बड़ी मछली की मोटी से मोटी चमड़ी काट डालती है। इसके शरीर पर तो हड्डियों का बख्तर है। अर्थात उसे तो कोई खा ही नहीं सकता।

आगे टेबुल पर केकड़े हैं। इन्हें यहां रहना बहुत अच्छा नहीं लगता, इसलिए इन्हें यहां कभी-कभी ही रखा जाता है। दरियाई प्राणियों में बड़े प्राणी छोटे प्राणी को तो खा ही जाते हैं, लेकिन छोटे प्राणी भी बड़े प्राणी के शरीर में घर बनाकर उनके खून से जीवित रहते हैं। शार्क के पेट में कितने ही जीवित सूक्ष्म कीड़ों का समूह होता है। सर्प से एक जीवित सूक्ष्म कीड़ा (barnacles) चिपकता है। वह मछलियों से भी चिपकता है। ऐसा ही एक कीड़ा इन केंकड़ों की पूंछ के नीचे चिपक जाता है। वह चिपक गया तो फिर हो गया। धीरे-धीरे वृक्ष जड़ फैलाता है, उसी तरह यह अपने रेशे केंकड़ों के सारे शरीर में घुसा देता है और फिर वह जब तक जीवित रहता है तब तक उसका खून पीता रहता है। उसके बाद दुर्भाग्य से केंकड़े के जीवन की नवरंगी बसंत फिर कभी नहीं आती।

केकड़े की इससे एक उल्टी हकीकत भी है। जीवन यात्रा निबाहने में वह दूसरे प्राणी की मदद भी खूबी से लेता है। 'ऐनिमोन' (Anemone) एक साथ अनेक डंक मार सकने वाला एक ऐसा ही जंतु है। केंकड़ा उसे अपनी पीठ पर रहने देता है। केंकड़े के भोजन में से उसे भी भोजन मिलता रहता है और वह ऐसा डंकवाला होता है कि केंकड़े की पीठ पर हो, तब तक उसे खाने की कोई हिम्मत नहीं करता। अपंग और अंधे की जोड़ी जैसी बात है यह। ऐसे सहजीवन गुजारते जोड़े समुद्र में बहुत हैं।

केंकड़ों पर रहने वाले 'एनिमोन' की कई जातियां हैं। इनमें से कितने तो तीन फुट लंबे होते हैं। ये रेत में पड़े रहते हैं, तब किसी बड़े फूल जैसे दिखते हैं। उसके बीच में एक चीरा दिखाई देता है, वही उसका मुंह होता है। उसके पंजे वृत्ताकार डंक वाले होते हैं। शिकार पकड़ में आया कि डंक से बेकाबू बनाकर नीचे की थैली जैसे पेट में पहुंचा देता है।

इस टेबुल पर एक 'चउण-मछली' (climbing perch) है। यह पानी में और हवा में भी श्वास ले लेती है। कभी-कभी यह किनारे के वृक्षों पर चढ़कर बैठती है। इस पर प्रयोग भी करके देखा गया है। पानी में चादर को खड़ी पकड़कर रखने पर वह उस पर चढ़ गई थी।

यहां एक और बहुत नाजुक मछली है। यह मच्छरों के अंडे खाती है, इसलिए मानवजाति के लिए तो काफी उपयोगी है। म्युनिसिपैलिटी वाले इसे ले जाकर कुओं तथा तालाबों में छोड़ते हैं।

अब अंत में, हम प्रकृति के उस परम विचित्र अष्टपाद (आक्टोपस) को देखें। समुद्र में वह ज्यादातर मुट्ठी जितना बड़ा ही होता है। यहां जो रखे गए हैं वे तो सुपारी जितने और तीन-चार इंच लंबे पांव वाले ही हैं। समुद्री प्राणियों में यह बहुत बुद्धिवान प्राणी है। उसके जोड़ की तो मात्र 'व्हेल' और 'सील' ही हैं। आठ पांव वाले ये आक्टोपस आपस में खेल भी खेलते हैं। फिर बिल्ली की तरह अपने आठों पांवों को बैठे-बैठे वह साफ भी करते हैं और परिस्थिति के अनुसार शरीर का रंग भी बदल सकते हैं। इसके पतले हाथ या पांव की दो पंक्ति में अनेक मुंह होते हैं। उनसे वह शिकार—अधिकतर केंकड़ों को पकड़ता है और उन्हें अपनी तोते जैसी चोंच वाले मुंह में रख लेता है। उस पर कोई दूसरा झपटता है तब वह भाग छूटने का विचित्र तरीका अपनाता है। मुंह में से 'साही' जैसा बड़ा पिंड निकाल कर उसकी आड़ में छटक जाता है। ए.जी. वेल्स कहते हैं कि विकासवाद के क्रमानुसार मनुष्य का आकार अष्टपाद जैसा हो जाने की भी संभावना थी।

हमने अब लगभग पूरा मछलीघर घूम लिया। इस छोटे-से कमरे में खड़े-खड़े ही दो-एक घंटा तो बीत गया। हर एक मछली के घर के पास खड़े रहकर उनसे बातें करने का बहुत मन होता है। लेकिन पास के होटल से कॉफी के कप खड़कने की आवाज आती है और समुद्र की तरंगें मीठी गर्जना करती हैं। इसलिए यहां खड़े रहने का धीरज नहीं है। इन रूप-रानियों की मस्ती और मेघ-धनुष के जैसा रंग-लीला भरा अप्सरा-जगत छोड़ने का मन नहीं होता। जैसे देखते ही रहें। नहीं, लेकिन चलिए, यह तो समुद्र है। इसमें अनेक तरह की मछलियां हैं, देख आइए। हां, किसी जन्म में मत्स्य हुए, तभी यह संभव होगा। लेकिन तब मछली देखने का मजा आएगा? नहीं, नहीं, कोई बड़ी मछली निगलने आ गई तो उसके जबड़े में न आ जाएं, इस बात की ही चिंता करनी पड़ेगी।

और यदि बड़ी मछली में जन्म हुआ तो अनेक छोटी मछलियों को खाना पड़ेगा। अरे, कैसी कंपकंपी आ गई! नहीं, मनुष्य जन्म में जितना देखा जा सके, उतना अच्छा। हमारा ज्ञान और हमारी अनुकंपावृत्ति मछलियां भी सीख सकतीं तो कितना अच्छा होता! जबकि यह सीखने के बाद यह सवाल खड़ा होगा कि उसे जीना कैसे चाहिए? पर जाने दीजिए यह बात।

अभी आदमी ही स्वयं के प्रति अनुकंपा कहां सीख सका है? चलिए, यह तो दूसरी बात हुई। इन सारी अप्सराओं की तरफ एक बार फिर नजर डाल लें। बाहर काफीघर में गरम-गरम मद्रासी काफी खूब आतुरता से हमारी राह देख रही है।

(*'चिदंबरा'* से)

7

गंध : अभिज्ञान की मुद्रिका

—सुरेश जोशी

दैनिक घटनाक्रम के गुरुत्वाकर्षण की सीमा को लांघकर कितनी ही घटनाएं चित्त के आकाश-मंडल में ग्रह रूप बनकर सदा घूमती रहती हैं। उसकी परिक्रमा के यात्रापथ पर हम अनजाने ही कितनी बार घूमने-फिरने निकल पड़ते हैं। वहीं से हम सत्य लाते हैं।

स्मरण केवल संचय नहीं। स्मरण के घोल में रासायनिक प्रक्रिया मिलाकर हमारे तथ्य नए-नए विस्मयकारी रूप धारण करते जाते हैं। तथ्य का विकास ही स्मरण में होता है। वहीं उसकी शाखा, पल्लव और फल-फूल निकलते हैं। हम मृत्यु का छेद स्मरण से उड़ा सकें, इसलिए ही तो हमारी भाषा में शुद्ध अभाववाचक शब्द बहुत कम मिलेंगे। 'अभाव' शब्द में भी प्रधानता तो 'भाव' की ही है। आगे लगा 'अ' तो केवल उपसर्ग है। जिसका स्मरण गया, उसका सब कुछ गया। नदी के किनारे नगर बसते हैं, संस्कृति जन्म लेती है। हमारा मनोराज्य भी स्मृति की नदी के किनारे बसता है। मेरा बचपन जिस गांव में बीता उसका नाम मैं आपको नहीं बताऊं। कीमती खजाने का जैसे किसी को पता न चले वैसे उसे गाड़कर छिपाकर रखना पड़ता है। उस गांव की सीमा अद्‌भुत और भयानक रस से बनी थी, इतना ही भौगोलिक परिचय मैं उसका दूंगा। नाम पुराने वृद्धों की खोज है। मुझे लगता है कि व्याकरण की शुरुआत भी क्रियापद से हुई होगी, उस क्रिया के करनेवाले को क्रिया करने का अभिमान हुआ होगा, उसके बाद ही कर्ता, कर्ता का नाम, विशेषण वगैरह का प्रपंच फैला होगा। नाम की डिब्बी में रखकर बंद कर देना बालकों को रुचिकर या पसंद नहीं। नाम की निश्चितता उसके स्वयं के विकास को सीमित कर देती है और शिशु तो स्वभाव से ही कवि होता है। प्रस्तुत-अप्रस्तुत के बीच के रमणीय असमंजस में से वह सदा अलंकारों की रचना किया करता है। बचपन के खेल का सबसे बड़ा खिलौना उत्प्रेक्षा है : 'मैं जैसे राजा हूं और तुम जैसे रानी हो।' इस तरह 'जैसेकि' की चाभी से नया-नया जगत खुलता ही जाता है। फिर हम बड़े हों, समझदार हों, तब अर्थांतरन्यास की पोटली बांधने लग जाते हैं।

मेरे गांव में राजा का किला था, वन था, वन में बाघ थे, रीछ थे। एक नदी थी। उसका नाम था 'झांखरी'। संस्कृत नामों की झनकार इसमें नहीं। झंखाड़ों से होकर, रास्ता बनाती बहती-बहती आने के कारण उसका नाम हुआ 'झांखरी'। यहां क्रिया और संज्ञा के बीच का संबंध निकट का है, इसलिए यह नाम अच्छा लगा और इसीलिए यह आपसे कहा। तापी तो दूर, सात काशी के घने जंगल में होकर बहती है। लेकिन इस 'झांखरी' के छिछले पानी में पांव डुबाते ही, धरती के साथ जकड़े रहने के बावजूद तुरंत पांव प्रवाही बन जाते हैं। उसके बिना खंडित खलखल नाद में तापी की वाणी सुनाई देती। उसके शीतल स्पर्श में, सात काशी के घने जंगल में फंसे चिकने अंधकार के स्पर्श की स्मृति थी। तोंदवाले गणेश आनंद चौदश के दिन उसमें डुबकी लगाकर अलोप हो जाते और दशहरे के दिन माताजी के जवारे की सोने की छड़ उसके पानी में तैरती होती। इस 'झांखरी' में प्यासा बाघ पानी पीने आता। शुरू-शुरू में बीड़ी पीने का साहस करनेवाले कितने ही संगी-साथियों ने मेरे मुंह में भी बीड़ी खोंस दी, उन्हें डर रहता कि उसकी इस गन्दी आदत की मैं चुगली न कर दूं, वह भी इस 'झांखरी' की साक्षी में। बड़ी-बड़ी योजनाओं वाले इन दिनों में भी वह 'झांखरी' अपनी नगण्यता को बनाए हुए है। गांव के पूर्वी किनारे 'सती का वन' नाम से प्रसिद्ध आम का बाग था। उस आम के बाग में एक चबूतरा था। पास ही एक मंदिर था, जिसमें सती की पादुका थी। उस सती की महिमा का तब हमें कुछ पता न था, लेकिन उस पादुका की छाप आज तक मन पर अंकित है। दंतकथाओं की फलदायक भूमि में वह पादुका हमें खींच ले जाती। उस आम के बाग के टिकोरे लगे हैं, यह समाचार बिजली के वेग की तरह फैल जाता और हमारी टोली निकल पड़ती। बाग के रखवाले को कैसे भ्रम में डाला जाए, कैसे गलत दिशा में दौड़ाया जाए, सबसे आगे कौन रहेगा—इन सबकी पक्की व्यवस्था होती। व्यूह रचा जाता और अंत में मीठे आम में साहस की और अधिक मिठास मिलाकर हम कुछ दूर, रेलवे की पटरियों के पास के झरने की ठंडक में, गूलर के पेड़ की छाया में भोजन करने बैठते। वह पाताल झरना अद्‌भुत रस का झरना था। उस झरने ने फिर से मन के न जाने कितने पाताल झरनों को बहता बना दिया है.

बाल्यवय में इंद्रियों के आगे बाह्य-जगत ऐसा तंग बनकर खड़ा रहता कि न पूछिए मत! वह ज्ञान का काल नहीं था, विस्मय का काल था। इंद्रियों की आपस में पहचान भी ताजा ही शुरू हुई थी। सारी इंद्रियों की नेता बनकर आंख पीछे से रास्ता दिखाती है, लेकिन बाल्यवय में आंख की अपेक्षा भी स्पर्श शायद अधिक तेज होता है। तब जगत अपना परिचय मन को नहीं, बल्कि शरीर को देता होता है। इसलिए ही आंखों से देखने के बावजूद बालक सर्प को भी हाथ से पकड़ने जाता है। स्वाद भी स्पर्श का ही एक प्रकार कहा जाता है। वन में कितने ही अपरिचित फलों के साथ चख-चखकर परिचय किया। आज भी उनके नाम या कुल-गोत्र का पता नहीं, मात्र उसकी स्मृति है। लेकिन

हम जैसे-जैसे बड़े होते हैं, वैसे-वैसे शरीर मरता जाता है, अरथी पर लिटाकर जला देने से पहले ही कब से हमने उसे जला दिया होता है। स्पर्श और स्वाद की बात करने जाएं तो वह प्राकृतता में खप जाता है। आंख का और कान का ही आधिपत्य बढ़ता जाता है। बालक का जीवन-खंड नीति की हुकूमत के तहत नहीं आया होता। इससे अस्पृश्यता के जटिल नियमों की पीड़ा उसे बाधा नहीं देती। हमारे बाल्यकाल की बहुत-सी स्मृतियां स्पर्श की, स्वाद की या गंध की स्मृतियां होती हैं। यह स्मृतियां शरीर की स्मृति हैं। मन से स्वतंत्र रूप में, शरीर को भी अपना स्मरण होता है। ऐसी स्मृति से शरीर उद्दीप्त हो तब बुद्धिमान आदमी मनुस्मृति का आश्रय लेने दौड़ता है। बचपन में तो शिशु का शरीर वीणा के मिलाए हुए तार की तरह क्षण-क्षण में झंकृत हो उठता है। तंग डोरीवाले धनुष की तरह सहज साधारण आघात से अज्ञात अगोचर दिशा में तीर की तरह वह दौड़ लगाता है। बड़े होकर हम शरीर की अधिक बात नहीं करते। हम देह-देही की फिलासफी में माथा मारते रहते हैं। गंध हमारी अभिज्ञान की मुद्रिका है। उसे कोई निगल न जाए इतना ध्यान रखें तो प्रत्याख्यान का शाप हमें स्पर्श नहीं करेगा।

कविता में 'फूल बोलता है' ऐसा हम कहते हैं, लेकिन बाल्यकाल में तो वह कविता नहीं, बल्कि वास्तविकता ही लगती है। हर फूल की भाषा भिन्न होती है। पलाश अलग बोलता है, महुआ अलग बोलता है, और सेमल के लाल चटक फूल का घमंड अलग ही तरह का। मोगरा, जूही, चमेली, परीकथा की भूल पड़ी छोटी नाजुक परियां हों जैसे। बचपन में मधुमालती पर ज्यादती की थी, उसे याद कर आज भी मन दुखी हो उठता है। किसी साथी के मन में तरंग उठी—चलो, इत्र बनाएं। ढलते चैत्र के दिन। परीक्षा से खाली हो चुके थे। मधुमालती के पेड़ को पूरी तरह झकझोरकर फूलों का ढेर बनाया। रसोईघर से पतीला उठा लाए। लकड़ियां जुटाकर जलाईं और पानी में फूल डालकर उबाला। शाम होते-होते तो इत्र की शीशियां भर जाएंगी, यह कल्पना थी, लेकिन शाम तक पानी वैसा का वैसा ही रहा। जादू के प्रयोग भी आजमाए और थोड़ी वैद्यक भी।

वृक्षों वृक्षों की छाया अलग होती है, अभी भी याद आता है। शिरीष (एक पेड़) की झीनी सुगंधवाली छाया, नीम की मंजरी की महकती तर-ब-तर शीतल छाया और पीपल की वाचाल छाया—वैसाख की दोपहर को वृक्षों की छाया के नीचे ही हमारी सभा जुटती। वृक्षों के साथ, पक्षियों का परिचय भी होता। काबर (मैना जैसा एक पक्षी) को ही मैना मानकर उसे पकड़कर उससे मधुर गीत गवाने का भी प्रयोग कर देखा। यह वनस्पति और पक्षी-परिवार के साथ की आत्मीयता अभी शहर की संकरी जगह के टुकड़े में एकाध गुलाब-बेला को आमंत्रण देने की सनक पैदा करती है। बचपन की पाठ्य-पुस्तक के अक्षर के साथ मधुमालती के डाल-पत्ते और फूल की छाया सब ऐसे मिल गए हैं कि थोड़े वर्षों के विच्छेद के बाद फिर से मधुमालती को आंगन में बुला लाते हैं।

घासवाली जमीन पर उंगलियां फिराकर सरगम छेड़ जाते पवन को देखना भी एक

आनंद है। किले पर 'रूसा' नाम की घास होती है। उससे एक तीव्र प्रकार की गंध आती है। सुबह की ओस पड़ी हो तो उस घास पर लोटने से शरीर को बहुत सुख मिलता, ऐसा लगता कि इस घास के पास घास बनकर महक उठें, हवा में सिर पर की कलगी छटा से झुलाएं। आज भी वर्षा के शुरू के दिनों की किसी रात को एकाएक हुई वर्षा की झड़ी की आवाज से जाग पड़ता हूं, तब धरती के भीतर से अनेक तृणबीजों के गर्भस्फुरण का अनुभव होने पर चित्त विह्वल हो उठता है। जमीन के छोटे-से टुकड़े पर खेती करने का खेल खेलते, तब बोए बीज में से अंकुर फूटते। उसे देखकर आनंद का रोमांच होता। वे कोंपल जैसे हमारे सर्जन के महान पराक्रम की पताका बनकर फहराती रहती और फिर मक्के का पौधा निकल आया हो, उसमें मोती जैसे दूध भरे दाने लग गए हों और उसकी सुनहरी मूंछ (रेशे) का गुच्छा बाहर निकलता, तब वह ऐसा लगता जैसे हमारे विजय की चंवर झूलती हो। अपने रेशमी स्वप्नों को उड़ा देते सेमल को हम दूसरे कारण से भी जानते। सेमल का कांटा और गोंद की छाल एक साथ चबाने से मुंह में पान खाने जैसा रंग आता है, यह हमारे एक मित्र ने खोज की थी, फिर एक अनुभवसिद्ध प्रयोग के रूप में इसे जाहिर करने में कितनी देर कर दीं। रंगों को और स्वाद को तब अलग नहीं किया जा सकता था।

स्कूल का काला बोर्ड पहचाना, उससे पहले चंदन के फल की मिठास हम जान चुके थे। कटहल नाम का एक पौधा याद आता है। वह रंग का सही जादूगर था। उसे हरे-हरे पत्ते देखते-देखते तो लाल चटक हो जाते और आप उसे मरोड़ डालें तो उसमें से सफेद दूध निकलता। हरे में से लाल और लाल में से सफेद—ऐसा बहुरंगीपन देख भारी आश्चर्य होता। काफी वर्षों बाद किसी ने बताया कि उस पौधे का दूध दद्रुनाशक (दादनाशक) है। लेकिन आज भी मेरे मन में तो वह रंग जादूगर की तरह ही बस गया है।

किले के जीर्ण अवशेष हमारी साहस भूमि थी। जंगली लताओं से लिपटकर हम टारजंन की तरह एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदते। किले के तहखाने में गुप्त मार्ग थे। उसके रहस्यमय अंधकार में भी हमारे साहसी मित्र गोता मार आते। हमारा एक मित्र अद्रुस यह खबर लाया कि उसमें सोना है। बस, फिर क्या पूछना था? सोने की बात नहीं थी। वह तो साहस के निमित्तरूप था। तहखाने की सुरंग में दीवार से पत्थर के टकराने की आवाज धातु जैसी आवाज की भ्रांति पैदा करती थी, इसलिए सोने की खान ढूंढ निकालने का आनंद, उसका रत्तीभर भी सोना लिए बिना, पूरी निस्पृहता से हम सबने माना।

परीकथा की संपूर्ण अद्भुत सृष्टि इस अरण्याच्छन्न किले में हम ढूंढते। अष्टकोणी बावड़ी के किनारे बैठकर रुनझुन कदमों से स्नान करने आती राजकुंवरी को देखते, तो उसी घने अंधकार में किसी जिन के बाल की जटा का आभास होने पर हम डर से

सिहरकर भाग जाते। पत्ता खड़कने पर पीछे देखते, वृक्ष की विशालकाया की परछाईं देखकर लगता—'मानुष गंध, मानुष खाऊं' कहता क्या राक्षस खड़ा है? इस भ्रांति से हम चौंक पड़ते। पके हुए अनुछ (सीताफल नाम तो बाद में जाना) के भीतर की भस्म जैसी सफेद गूदे की फांक डाइन के दांत जैसी लगती और काटकर रखे अनार के लाल-लाल दाने सूर्य के प्रकाश में ऐसे चमकते जैसे उन दानों में एक तेजपरी छिपकर लाल चटक हंस रही हो। बेर के पेड़ से गिरे पके बेर का खट्टा-मीठा स्वाद लेते तो देवशिशु की तोतली आवाज का स्वाद चखते हों, ऐसा लगता। किसी चांदनी रात में जग जाने पर बाहर दृष्टि जाती तो ऐसा लगता जैसे चांद कहानी कहता हो और सारा जंगल सिर हिलाकर हुंकारी भरता हो। रात्रि के अंधेरे में सुनाई देती बाघ की दहाड़ से सिर तक रजाई ओढ़कर बचने का झूठा प्रयत्न करते, दरवाजे से बाहर पांव रखते ही अद्भुत और भयानक साम्राज्य शुरू हो जाता।

घड़ी की सेकंड की सुई के कदमों से तब समय नहीं नापा जाता था। समय में पेंग मारना तब अच्छा लगता। वन के पत्तों की एक-सी आवाज कानों में पड़ती हो, वर्षा ऋतु में एक-सी टप-टप बरसात होती हो, तब समय के चरण चिह्न मिट जाते हैं। कहानी पूरी होते ही 'अब दूसरी' की मांग करने पर चतुर वृद्धा दादी शुरू करती—एक बार राजकुमार राजकुमारी से कह गया कि आने वाले साल में बरसात शुरू हो और तुम दस बूंद गिनो उससे पहले मैं आ जाऊंगा। राजकुमारी तो आकाश की तरफ एकटक देखती बैठी रही। एक दिन एक काला बादल दिखाई दिया, एक बूंद उसके गाल पर पड़ी टप, एक बूंद पीपल के पत्ते पर पड़ी टप, एक बूंद बरगद के पत्ते पर पड़ी टप—इस तरह टप-टप-टप बूंदें पड़ती ही जातीं, राजकुमारी की आंखों में से भी आंसू टपकते ही जाते—टप-टप-टप और हमारी आंखों में मीठी नींद टपकती जाती—टप-टप-टप।

वन-प्रदेश की काव्य-सृष्टि का मुख्य अलंकार ही है अतिशयोक्ति। सूखे पत्तों का वह स्वर तो अभी भूलता नहीं। धरती के लिए हम नारी जातिवाचक शब्द प्रयोग करते हैं। लेकिन पहाड़ी क्षेत्र में खुले आकाश के नीचे सूर्य के प्रखर प्रकाश में खड़े रहें तब भूमि खंड की सूर्यदत्त ताम्र पुंसकता देखकर किसी को नर जातिवाचक शब्द ढूंढने का मन हो आता। जंगल में चलें और शहर की सड़कों पर चलें, दोनों में कितना अंतर होता है! वन में तो हमारे पांव से सर्प के रेंगने का स्पर्श होता, बाघ की छलांग लगाने की गति का स्पर्श होता। शहर में मोटर और ट्राम की हिचकोले भरी यांत्रिक गति हमारे चरण की गति की लय तोड़ती।

बचपन में, भाषा का ज्ञान नहीं होता तो सारा शरीर प्रतिभाव की क्रिया में शामिल होता है। फिर सारे अंगों का काम जीभ संभाल लेती है। लेकिन बचपन में तो आम की डाल पर हरे टिकोरे देखकर 'दीजिए'—यह कहने के बदले सारा शरीर उस तरफ सहज प्रतिभाव से घूम जाता है। धीरे-धीरे शरीर को इस प्रतिभाव की क्रिया में से वापस लाकर

हम जैसे-जैसे संस्कारी बनते जाते हैं, वैसे-वैसे शरीर निश्चेष्ट बनता जाता है और हमें उसका भार मालूम पड़ने लगता है। नया खिला फूल देखकर सारा शरीर अब उसके पास दौड़ नहीं जाता। मात्र आंख उसकी तरफ देखकर वृत्तांत दे देती है। उस बाल कहानी के बड़े महल की तरह अब उसके कई कमरे खाली पड़े हैं।

एक साथ हुई तीन-तीन मौतों के आघात से मूक हो गए दादा औ बहरी-गूंगी बुआ—इन दो मौनों के बीच मेरे बचपन का झरना बहा। उस पर शोक की गहरी छाया पड़ गई। आज भी कुछ बोलता हूं तो एकाएक वह छाया घिर आती है और मुझे बचपन का वह कमरा याद आता है। एक कोने में मिट्टी का दीया टिमटिमाता होता और कांपती रोशनी की डरावनी छाया कमरे की दीवार पर नाचती होती। आज के युग में, बिजली की रोशनी में वह छाया की सृष्टि गायब हो गई है। साथ-साथ उस छाया की माया भी चली गई है।

बचपन को अब कहीं छिपा रखना पड़ेगा, नहीं तो सयानापन उसे भुना खाएगा। उड़नेवाला घोड़ा और राजकुमारी के सुनहरे बाल वह बाजार में बेचने निकलेगा। उस बचपन को कहां छिपाएंगे? शुक्ल-पक्ष की तृतीया-चतुर्थी के चांद की रोशनी में बांधकर उसे सुरक्षित रखेंगे?

(*'जनान्तिके'* से)

8

दूर के वह स्वर...

—दिगीश मेहता

बचपन के दिनों की याद—तपी हुई धरती पर, बरसात की पहली फुहार पड़ने के बाद उसमें से मीठी सुगंध निकलती है।

मुझे याद आती हैं वे रातें। पूरा दिन धूल और गरमी में भटकने के बाद, छत पर खूब पानी छिड़ककर, बिछावन पर लेटने का कैसा आनंद आता था! चांदनी जैसी साफ-सुथरी चादरों पर पानी जैसी ठंडक फैली होती। उस पर लोटते-पोटते अपने बड़े परिवार के हम सारे बच्चे सो जाते।

हममें से कोई-कोई तो बिस्तर पर जागता हुआ कब तक लेटा रहता। कभी हम ऊपर आकाश में चमकते तारों की तरफ खुली आंखों से देखते रहते, तो कभी बंद आंखों से, पास बिछे बिस्तरों पर लेटे-लेटे बड़े-बूढ़ों की बातों की तरफ ध्यान लगाते। मैं उन्हीं में से एक था।

विवाह के ज्ञाति भोज में खाकर आया होता। मुंह में पान की सुगंध अभी कम नहीं होती, मस्तक पर चंदन का लेप सूखा न होता, शरीर से इत्र की सुगंध उठती होती, पीतांबर की, तुरंत की हुई चुनट, तार पर फड़कती होती...

और बिस्तर पर पड़ा-पड़ा सुनता। दूर-दूर बैंड बाजे के स्वर सुनाई देते होते। आज भी कई बार वे स्वर मुझे घेर लेते हैं, जबकि हमारे उत्तर गुजरात का वह गांव छोड़ने के बाद, सच कहूं तो वह कभी सुनाई नहीं पड़ा।

मन के जागते रहने पर दूर-दूर तक के वे बैंड के स्वर मेरे निकट आते। शुरू होते उस तंद्रा के मांध्य (**twilight**) प्रदेश। धीरे-धीरे नींद के गहरे खर्राटे, मखमली परदे खिंचते आते, अद्भुत स्वर शामियानों में भर जाते, समा जाते और इस तरह वहीं ठहर जाते। फिर वापस जागृति का झोंका आता, हवा की लहर पर वह बैंड के स्वर वापस झंकृत हो उठते, फिर उमड़ आते...

कुछ देर के बाद आंख खोलता, तो सुबह हो गई होती। ऊपर के चौखट में से झुके

आक़ाश का नाजुक सुनहरा पट धीरे-धीरे खुलकर रूपहला बन जाता, फिर सफेद और फिर गहरा भूरा...

दिन के उजाले में, रातवाली बारात के स्वर कहां खो जाते होंगे? उस फ्रेंच कवि ने पूछा है न कि 'Where the snows of Yester Year?' बीते वर्ष का वह हिम कहां? वर्लेइन हमें क्षण भर तो ऐसे भ्रम में डाल देता है कि—तब इस वर्ष पड़ता यह नया हिम 'नया' होगा ही नहीं? वही-का-वही होगा? या फिर ऐसा तो नहीं होगा कि यह नया वर्ष स्वयं भी नया न हो, वही-का-वही हो, वर्ष बदलता ही न हो। कविता की ऊष्मा में समय प्रवाही बन जाता है, उस हिम की तरह।

सुबह होते ही ऐसा लगता है कि सच क्या और झूठ क्या? रात की बारात का स्वर सच्चा या सुबह की चकाचौंध उत्पन्न करता यह उजाला?

बारात के बैंड के स्वरों के साथ ही साकार हो उठता है वरयात्रा का दृश्य। बारातियों के बीच ठुमकता, नाचता, नजाकतभरा, चांदी के सामान से चकचक चमकता काला, कसा हुआ वह लींबुमियां का घोड़ा। काकासाहब को हिमालय देखकर ऐसा लगा कि... 'इस हिमालय ने क्या-क्या नहीं देखा होगा?' बारात के घोड़े को देखकर हमें भी ऐसा ही लगता है—'इस घोड़े से क्या छिपा होगा? इसकी पीठ पर कैसे-कैसे अरमान, कितनी-कितनी आशाएं सवार हो चुकी होंगी। और कितनी ही निराशा और आत्मवंचना का बोझ उसकी उसी ठुमकती चाल के साथ चला होगा।' धन्य है उसकी तटस्थता। उसी पीठ पर चाहे जैसा इतिहास लादा गया हो, लेकिन उसकी तो वही-की-वही ही गति रहती...वही तालबद्ध खुशी।

और साथ में आती वह पेट्रोमैक्स की प्रतिमाएं। उसके चौखटे गहरे हरे रंग के होते और उसके बिंब में से सिसकारी करता, आंख आंज डालता, लाल-पीला-भूरा प्रकाश निकलता। दूल्हे के एक तरफ तीन गैसबत्ती, दूसरी तरफ तीन। इन तीन-तीन की कतारों की रचना में हमेशा कुछ कमनीय, नियमरहित निर्माण ही होता। क्या पता, कैसे भी एक समान देखा हो, यह याद नहीं—आकर्षक रूप में, लेकिन सही-गलत कुछ भी।

ये पेट्रोमैक्स उठाने का धंधा हमारे गांव की तेली जाति की स्त्रियां ही करतीं। वह उनके ही खून में था। यहां तक कि गांव की ऊंचे-से-ऊंचे वर्ग की स्त्रियां उसे उठातीं तो भी, मुझे लगता है कि वरयात्रा की इतनी वाह-वाह न बोली जाती। दिन में दूल्हा इन पेट्रोमैक्स उठाने वाली स्त्रियों को पहचानता भी नहीं, लेकिन वरयात्रा की रात में वह स्त्रियां जब तक प्रकाश नहीं फैलातीं तब तक दूल्हे को रास्ता नहीं दिखता...और उनकी विनम्रता कैसी? दूल्हे को मुख्य द्वार तक छोड़ जाने के बाद वे अपने ऐसे एकांत में खो जातीं कि ढूंढने पर भी नहीं मिलतीं...अब तो यह कौम लुप्त होती जा रही है और ऐसी बारात भी।

शुरू में होता है बैंड और बैंड से भी आगे ठाठ से नाचता उत्साही बालसाजन। बैंडवालों की रंग-बिरंगी धारियोंवाली वर्दी चमकती होती ही। बैंड मास्टर के फूले, बुलबुले जैसे दोनों गालों पर एक-दो लोगों की आंखें तो स्थिर होतीं ही। बैंडमास्टर बच्चों के लिए वरयात्रा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति होता। यह सच भी है न? उसकी आंख के इशारे से पूरी बारात चलती, उनके स्वरों और धुन से तो गांव मुखरित हो उठता। वह बैंडमास्टर तो अनेक लड़कों का छिपा आदर्श होता। उसकी तिरछी टोपी, उसका पान टपकता मुंह, उसकी जागरण से लाल आंखें, उसका काला कोट...उसके आगे, इस शान-शौकत के आगे राज्य का मुकुट या डाक्टरेट का गाउन भी तुच्छ माना जाता...और दूसरे दिन उसी महोदय को गांव के किसी दुखद कोने में बैठे बीड़ी लपेटते हुए देखकर बालकों को भ्रांति-भंग का झटका लगता। बीते कल की रात के इस सार्वभौम सत्ताधीश की दिन में यह दशा! और इस तरह हम बच्चे उस गांव की गलियों से ही जिंदगी के बड़े भ्रांति-भंगों के लिए काफी कुछ सीखते हुए हैं, होशियार होते रहे हैं...शहर में यह सब सुख है कि वहां भ्रांतियां सुरक्षित रहती हैं। शायद इसीलिए ही गांव टूटते जाते होंगे।

और बाराती...यह तो ऐसी कौम! कलफदार सफेद लंबे कोट में सज्जित, भरावदार, सभ्य, जन्मजात श्रीमंत, गंभीर, स्वस्थ—कुछ बनिए जैसे स्थूल...और कलफवाली कमीज, कोट और ऐसी चितकबरी पोशाक वाले, गोल चेहरे, गोल टीका, गोल पेट। अरे, संपूर्ण व्यक्तित्व ही ऐसा! संपूर्ण जीवनदर्शन में, गोल लड्डू की गोल-गोल सूचनाएं लेकर चले आते ब्राह्मण। और फिर कान में कड़ियां, गाढ़े लाल-हरे रंग की कमीज पर चांदी के बटन। बीड़ी का धुआं, कश्मीरी टोपी, नया साफा और फिर कहीं सुनहरी टोपी—इन सब वैभव से शोभा पाती आस-पास के किसी ग्रामीण की बारात...!

डिजरायली की जीवन-कथा में आन्द्रे मोर्वा ने एक सुंदर प्रसंग लिखा है। एक दावत में डिजरायली अपनी बैठक में गहरे विचारों में खोया पड़ा था, हवा थमी हुई थी और जीवन का आदर्श कैसा होना चाहिए, यह चर्चा चल रही थी। बातों का विषय घूमता-घूमता डिजरायली के पास आया। आदर्श जीवन कैसा होना चाहिए?—"पालने से लेकर कब्र तक...वैभवशाली बारात जैसा।" जिंदगी के ऐसे चाहकों को जन्म से मृत्यु तक ऐसी ही धूमधाम चाहिए, ऐसी ही चमक-दमक। स्पिनोझा जैसे दार्शनिक द्वारा बताई नई जिंदगी का कंकाल उन्हें सूखा लगता, अच्छा न लगता—फिर भले ही यह कंकाल क्यों न ईश्वर से मढ़ा हुआ हो।

हमारे वरराजाओं को भी उनका सफर शुरू होने के एकाध सप्ताह पूर्व ऐसा ही लगता होगा कि वरयात्रा कभी खत्म ही न हो, इसी तरह चलती रहे, तो कितना अच्छा! उनका दोष नहीं है। क्षणभर गुलाब को चुनने में, दूसरी तरफ राह देखती रात-रानी को

वह भूल जाए तो यह क्षम्य नहीं माना जाएगा? उसे कहें कि 'फूल चुन लो, मित्र!'...फिर संपूर्ण वरमाला तो है ही।

मनोविज्ञान का कहना है कि हर व्यक्ति अपने साथ भूतकाल के अलावा अपनी संपूर्ण संस्कृति के भूतकाल को भी अपने सुषुप्त मन में लेकर चलता है। बारात देखते ही ऐसी पैतृक स्मृति के एक-दो प्रसंग ताजा हो आते हैं।

एक तो पुराणों ने परिचय कराया और तुलसी द्वारा चित्रित किया गया शिव-विवाह—भूतों का समूह, बाबा-संन्यासियों से भरी वह शिवजी की बारात। विशाल हिमालय के उत्तुंग सौंदर्य से सजी वह विराट की बारात। ग्रीस के प्राचीन अवशेषों पर अनुमानित युगल को देख कीट्स कह उठा—**For ever wilt thou love, and she be fair.** इस शिवस्मृति के साथ हमारे मन में भी ऐसा ही आशीर्वचन आ जाता है...

दूसरा प्रसंग नेमिनाथ का है। हैमलेट न होने पर 'हैमलेट' जैसे निष्प्राण लगता है, वैसे ही बिना दूल्हे की बारात। नेमि ने ऐसी ही परिस्थिति सृजित की। राजुल की वरमाला कुंवारी रही। विवाह-मंडप के तोरण सूख गए। स्वजनों के मुंह मुरझा गए। नेमिनाथ ने महाभिनिष्क्रमण किया। फिर एक बार विचारों ने व्यवहार को हचमचा डाला।

शिव और नेमि—मानव मन की दो विशिष्ट गतियों के अमर प्रतीक हैं।

तीव्र वैराग्य से संसार को धिक्कारते शिव, शक्ति की मोहिनी के वश हो पृथ्वी की खुशबूभरी गोद में उतर आते हैं, स्थूल को सहज स्वीकार करते हैं—यह है एक गति।

दूसरी गति का प्रतीक है—नेमि। भोग-विलास और जड़ उपभोगों से छलकते संसार के बीच रहते नेमि को एक ही दृश्य, मीठा नश्तर हमेशा के लिए इस जगत से, संसार से पराङ्मुख कर देता है, साथ में राजुल को भी...नेमि और राजुल स्थूल पर सूक्ष्म की, क्षणिक पर शाश्वत की विजय सूचित करते हैं।

सती और राजुल—एक ही शक्ति के दो मुख। सती का मुंह संसार की तरफ घूमा है—फिर भी मुद्रा है मृदु, सहिष्णु, करुणामय। जबकि राजुल ने संसार के थाल पर से आंख हटाकर ऊंचाई पर नजर स्थिर की है। उसके चेहरे पर हैं घटाएं कठोर तप की, अनंत श्रम की, तीव्र साधना की...और अंत में तो दोनों मुद्राएं एक-दूसरे की पूरक हैं, एक ही स्त्री के दो स्वरूप हैं।

पुराणों के ग्लाईडर पर बैठकर ऊंचाई तक गया मैं, नीचे उतरता हूं तो आस-पास कैसे विचित्र दृश्य दिखते हैं! खासकर पश्चिम की तरफ से आती वह विलक्षण बारात—टी.एस. इलियट ने साठ वर्ष के बाद निकाली। बर्ट्रांड रसेल ने अस्सी के बाद। मुझे इसमें कुछ नयापन नहीं लगता। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी का वह मौजीला नाटककार

'विशरली' कहता है, एकदम मृत्यु-शैय्या पर, पकी उम्र में बारात निकालने की बात। उसके 'कॉमिक' कार्यकाल पर इसके बिना कलश कैसे चढ़ता?

और शब्दों के अर्थों की कोई सीमा होती है? हमेशा कुंवारे रहे अपने एक मित्र से हमने पूछा, "यह बारात कब तक चालू रखनी है?" इसलिए सच्ची बारात तो अविवाहितों की ही है...

दूर से सुनाई देते बैंड के स्वर कहां से कहां ले जाते हैं...!

('दूरना ए सूर' से)

9

तेषां दिक्षु

—भोलाभाई पटेल

ये शब्द मेरे लिए जैसे जादू की खड़ाऊं बन जाते हैं। उन्हें पहनकर मन उड़ने लगता है। उस दिशा में केवल विदिशा नहीं, दसों दिशाएं हैं—सात समुद्र, तेरह नदी, पहाड़, पर्वत, नगर, जनपद, वृक्ष जंगल…फिर आता है मेरा छोटा-सा गांव, जिस गांव से मैं निर्वासित हुआ हूं—मेरा वह गांव।

मुझे हमेशा यह लगता है कि मेरे उस गांव की सीमा से होकर एक नदी बहती होती तो कितना अच्छा होता! शैशव, किशोरावस्था नदी के किनारे बीता होता, ऋतु-ऋतु पर नदी को अलग-अलग रूप में देखा होता। कोई कभी पूछता है, 'आपके गांव के पास से कौन-सी नदी बहती है?'—तो उत्तर में केवल निःश्वास निकल पड़ता है। हां, गांव की सिवान पर तालाब है। गरमी के दिनों में वह कभी सूख भी जाता है।

नदी नहीं है तो नहीं है, लेकिन ऐसा लगे तो भले ही लगे। लेकिन मेरा गांव किसी पहाड़ की तलहटी में होता तो कैसा रहता! घर से बाहर निकलते कि पहाड़ आवाज देता होता। पहाड़ों पर देवालय होता। उस देवालय तक पगडंडी जाती होती। एक श्वास में चढ़ जाता। बहुत बड़ा पहाड़ नहीं। ऐसा पर्वत होता, जैसे लगता कि गांव उसकी ऊष्मा में सो रहा है, पार्श्व में छिप रहा है, अंग्रेजी में 'नेसल' क्रिया है न, उसी तरह। लेकिन सपाट खेत हैं, मेरे इस गांव के चारों तरफ। दो-तीन छोटे-बड़े टीले हैं। उनमें एक खाई जैसा टीला है। वहां एक बखार के नीचे सांप के बड़े-बड़े बिल थे। मैंने भी वहां सांप देखे थे। वे सांप बिल के नीचे गड़े धन की रखवाली करते थे।

नदी नहीं है, पर्वत भी नहीं है, लेकिन गांव से बाहर निकलते ही कोई घना जंगल शुरू हो जाता तो कितना अच्छा होता! अंतहीन जंगल! छोटी-बड़ी पगडंडी अंदर दूर-दूर तक ले जाती होती। उसमें जंगली प्राणी भी होते। बीच में कहीं सरोवर भी मिलते होते। बचपन में प्रेमानंद की कविता पढ़ते-पढ़ते जंगल का जो वर्णन पढ़ा था—उस 'वैदी वनमां वलवले' शीर्षक कविता में—उसी के जंगल की कल्पना की थी।

हां, वैसा जंगल नहीं है। एक बड़ा चरागाह गांव के पूरब में है, खिरनी और बबूल हैं। पहले बहुत सुनसान था, अब नहीं है। अब उस चरागाह के बीच से होकर एक पक्की सड़क जाती है।

नदी नहीं है, पर्वत भी नहीं है और जंगल भी नहीं है। यह अभाव तो है ही, लेकिन मेरे इस गांव के विषय में कुछ काव्यात्मक भी नहीं मिलता। कुछ असाधारण नहीं है। गांव के सिवान पर बांध जैसा कुछ नहीं है, गांव का कुछ छोटा-बड़ा इतिहास भी नहीं है। गांव पुराना तो लगता है। पहले जहां घर थे, वहां अब खेत हैं। गांव की उत्तर दिशा में जो काली मां थी वह लगभग दक्षिण दिशा की गलियों-मुहल्लों के बीच आ गयी हैं। हमारा घर वहीं पास में है।

दादाजी कई बार उंगली से दिखाते हुए कहते—वहां बड़ा-सा कुआं था और वहां दूर सुंदर महल था। गांव के एक ठाकुर ने एक पटेल की लड़की के साथ मजाक किया था। पटेल चुप रहा। फिर एक भोज में सभी ठाकुरों को आमंत्रित किया। भोजनकर बाहर निकलते ठाकुरों को काट-काटकर उस कुएं में डाल दिया। मेणा भील को बुलवाया था। फिर उस कुएं को बंद कर दिया। एक ठाकुर की पत्नी अपने मायके गई थी, वह मात्र बच गई। गांव में आज ठाकुरों के दो सौ घर हैं, उस ठाकुर की पत्नी की वजह से। दादा बताते हैं—वहां खोदने पर अभी भी कुआं मिलेगा...मानो या न मानो, इतना ही इतिहास है। वह भी कहीं लिखा हुआ नहीं है। ऐसा हो कि मेरे गांव में किसी पुराने नगर के अवशेष मिल जाते तो उसका क्या इतिहास है, पत्थर-पत्थर पर ढूंढता।

गांव के पड़ोस में भी कोई प्रसिद्ध स्थल नहीं है। दो मील दूर जंगल के बीच वासुदेव महादेव का मंदिर है। एक अकेला मंदिर है। जन्माष्टमी पर वहां मेला लगता है। महादेव बहुत पुराने हैं। उसकी कथा है। कथा यों है कि भगवान स्वयंभू ज्योतिर्लिंग रूप में पाताल से प्रकट हो रहे थे। वे बाहर निकलने ही वाले थे कि पास ही एक चरवाहा पशुओं को चराता वहां आ पहुंचा। उसी तरफ भगवान पाताल से ऊपर उठ रहे थे और वह चरवाहा 'हां...हां...' कहता आगे जा रहे पशुओं को रोक रहा था। भगवान को लगा कि यह शब्द उनके लिए कहे गए हैं। इसलिए वे वहीं रुक गए। शिवलिंग जमीन में दो-तीन हाथ नीचे ही रह गया। वहां से नीचे पाताल है और वह पाताल एकदम अंबा के पर्वत पर जाकर निकलता है।

बचपन में हमारे आस-पास के दो-चार गांवों तक गति थी। वे सभी गांव मेरे गांव जैसे ही थे। फिर हमारे यहां बहुत ठंड नहीं, बरसात भी खास नहीं, लेकिन गरमी जरूर पड़ती थी। बहुत बरसात होती तो बाढ़ जैसी स्थिति हो जाती न। हां, वर्षों पहले की एक घटना आज भी लोग याद करते हैं। गांव में हैजा फैला था, तब सारे लोग खेतों पर छप्पर डालकर एक महीने तक रहे थे। यह घटना मेरे सामने की नहीं है। बस, हर कहीं सपाट-सपाट दिखता।

इसलिए मन कल्पनाएं करता। और वह भी कर-करके कितनी करे? सीमा पर गरमी के दिनों में, जब खेत खाली पड़े होते तब पोमलां (लड़ैत) आते। जिप्सी लोग होंगे। हम पोमलां कहते। उनके साथ कुत्ते और लदुआ बैल होते। महीने-दो महीने रहते। वे कंघी-सुई बेचते। तरह-तरह का काम करते। बरसात शुरू होने को होती कि उनकी दुकानें उठ जातीं। इस तरह पाड़े पर चक्की के पत्थर लादकर सान धरने वाले आते, रहते और चले जाते। एक बार तो बनजारों के बैलों का एक बहुत बड़ा झुंड आया। दौड़कर हम सीमा तक गए। झुंड चला गया। कई दिनों तक हम बनजारों की बातें करते रहे। कई बार कच्छी-अहीर (मवेशी पालकर गुजर करने वाले) आते। ऊंट पर सारा घर होता। इस तरह घूमने को मिले तो? रवींद्रनाथ की कविता 'आमि हते यदि आरब बेदूईन...' तो फिर बड़े होने पर पढ़ी, लेकिन ऐसी वृत्ति बचपन में कई बार हुई और बनजारों की बातें तो दूर, और दूर ले जातीं। डाक्टर मोतीचंद्र की 'सार्थवाह' पुस्तक में शाह-सौदागरों के जमीन और समुद्री मार्गों पर कल्पना से विचरने को मिला। कितने-कितने मार्ग! एक चित्र बहुत बार नजर के सामने आता रहा है। खैबर घाटी से आते बनजारे...दुर्लंघ्य उन पहाड़ों के बीच के टेढ़े-मेढ़े संकरे रास्ते से बनजारों की लंबी-लंबी टोली आ रही है।

लेकिन उन दिनों में कोई आबु, अंबाजी हो आया होता तो वहां की बात करता, "अनुकूलता नहीं थी, लेकिन माताजी की आज्ञा हुई तो यात्रा हो गई। अंबाजी तो अंबा जी! और गब्बर की पहाड़ी तो...' मैं सोचता कि हमें माताजी की आज्ञा कब होगी? हमारे एक रिश्तेदार को तो बदरीनाथ की आज्ञा हुई। चार-चार महीनों की यात्रा पर गए। पैदल चलकर। वहां से आकर हिमालय की और गंगा की बातें करते। उनकी बातों में नदियां, छोटे पर्वत और जंगल सब कुछ आता। मन वहां पहुंच जाता। हमें भी बदरीनाथ की आज्ञा हो...

हमारे यहां एक गृहस्थ बाबाजी आए। साधु हो गए थे, फिर गृहस्थ। देश में बहुत घूमे। तरह-तरह की बातें बताते। भोज और कालिदास की बातें। धारानगरी और उज्जैन नगरी की बातें। उन्होंने मेरा हाथ देखकर मेरे पिताजी से कहा था, "इस लड़के के भाग्य में सरस्वती नहीं, लक्ष्मी है।" पिताजी खुश हुए। मुझे आज भी याद है कि मैं तब उदास हो गया था। हथेली रगड़-रगड़कर देखता कि कहां है सरस्वती, कहां है? मुहल्ले की काशी बुआ ढेरों जैन कथाएं कहतीं। उन कथाओं में देश-देशांतर घूमने की बात होती ही। इस कारण काशी बुआ की बात मन में अंकित हो गई। तभी पढ़ी बत्तीस पुतली की कथा' उज्जैन का परदुखभंजन राजा विक्रम नकाब लगाकर नगरचर्चा सुनने निकल पड़ता...भयंकर रोमांचक...मन हाथ में रहता नहीं।

रामायण में राम के साथ सरयू तट की अयोध्या से लंका तक पहुंचा जा सकता है, और पांडव तो अर्जुन के साथ-साथ वन-वन ही रहे।

गजरामारू की कथा ने तो कल्पना को खुली छूट दे दी थी। रानी के सौतेले बेटे को बाप ने देश निकाला दे दिया था। कोई लिखित या मौखिक आज्ञापत्र नहीं। काली घोड़ी और काला वेश भेज दिया। वह काला वेश पहनकर काली घोड़ी पर बैठ पिता का देश छोड़कर निकल गया...मन दिशाओं-दिशाओं तक जाता। लेकिन वास्तव में तो दो-चार कोस पैदल चलने को मिलता। फिर गांव में मोटर-बस शुरू हुई।

चौरे के पास खड़ी रहती। वह वहां से जब तक जाती नहीं तब तक हम वहां से हटते नहीं थे। जाती हुई मोटर में पीछे लटकते, गिरते भी। फिर धूल उड़ाती मोटर को जाते हुए देखते रहते थे। एक घंटे में कलोल पहुंचेगी। अभी भी याद है, पहली बार कलोल में गाड़ी में बैठना पड़ा। गाड़ी में भीड़ नहीं थी, फिर भी खिड़की के पास खड़ा रहा। अहमदाबाद देखकर तो चकित था, घर में तो रुकना ही नहीं था, सारा दिन सड़क पर ही रहता।

जैसे-जैसे इतिहास-भूगोल पढ़ते गए, वैसे-वैसे कल्पना की कालगत और स्थलगत सीमाएं बढ़ती गईं। भूगोल में नदियों और पहाड़ों के नाम रटने पड़ते। गुजरात की—बड़ौदा राज्य की नदियां, भारत की नदियां। संसार की बडी-से-बड़ी नदी कौन?

मिसिसिपिमिसूरी! बड़ी में बड़ी नदी? एमोजन। ऊंचे से ऊंचा पहाड़? हिमालय। बड़ा से बड़ा मैदान? बड़ा से बड़ा सरोवर? बड़ा से बड़ा नगर? बड़ा से बड़ा जंगल? अंधेरा मुल्क अफ्रीका और उसके जंगल। उत्तर ध्रुव और दक्षिण ध्रुव के हिम प्रदेश। अटलांटिक और पेशिफिक, लेकिन मुझे अच्छा लगता अपना अरब सागर। हिन्दुस्तान का नक्शा बनाकर तिरछे अक्षरों में लिखते—अ र ब सागर आदि। आंबा तालाब से अरब सागर।

फिर विश्व युद्ध का वर्ष आया। जापान और जर्मनी, इंग्लैंड और फ्रांस—ये नाम आए। हम जर्मनों के प्रशंसक थे। जर्मनों ने हमारे देश की विद्या से बम बनाना सीखा है, यह हम दृढ़ता से मानते थे। भूगोल में चित्र-विचित्र नाम आते और रोमांच होता। ऐसा एक नाम है टिम्बकटु। तरह-तरह के उच्चारण के साथ बोलते।

धीरे-धीरे गांव की सीमा से बाहर जाने को मिला। नदियां देखने को मिलीं, शहर देखने को मिले! उत्तर भारत की यात्रा ने तो जैसे तमाम बंद दिशाओं के द्वार एकाएक खोल दिए। तेषां दिक्षु...नदी देखी तो गंगा, पहाड़ देखा तो हिमालय, नगर देखा तो दिल्ली, चित्तौड़, उदयपुर, नाथद्वारा और एकलिंग जी, हरिद्वार और ऋषिकेश, गोकुल, मथुरा और वृंदावन, देहरादून और मसूरी, आगरा और जयपुर।

जैसे-जैसे अवसर मिलते गए, वैसे-वैसे छोटी-बड़ी यात्राएं होती गईं। अनेक नदियां देखीं। कश्मीर की झेलम और दक्षिण की कावेरी। गंगा, यमुना और ब्रह्मपुत्र। ब्रह्मपुत्र के किनारे तो लगातार बारह दिन रहा। उसमें भी डिब्रूगढ़ की ब्रह्मपुत्र तो 'रिवरव्यू होटल' की खिड़की से बाहर ही बहती थी। गोहाटी में भी बरामदे में बैठे-बैठे उसके दर्शन होते।

अनेक पहाड़ देखे। उत्तर और पूर्व हिमालय, अरावली और विंध्य, अनेक वन-जंगल देखे। कितने ही नगरों में सूर्योदय और सूर्यास्त देखा। कई समुद्र-तटों की लहरों की मस्ती देखी। रांबो की 'ड्रंकन बोट' की तरह लहरों में उछला हूं।

गाड़ी के डिब्बे के पास घंटों बैठकर गांव, खेत, नद-नदी और नगर देखे हैं। खिड़की के पास बैठना बहुत अच्छा लगता। लंबी दूरी तय करती गाड़ी दौड़ती रहती है। सुबह होती है, दोपहर होती है, शाम ढलती है और गहन अंधेरे में भी गाड़ी दौड़ती रहती है। स्टेशन आते हैं। कभी भीड़ भरा प्लेटफार्म दिखता है, कभी निर्जन। बस, ट्रक, हवाई जहाज—सबकी गति आकर्षित करती रही है। कई दिनों तक बाहर रहने के बाद घर की याद आने लगती है। लेकिन घर आने के बाद घूमने जाने की वृत्ति फिर से होने लगती है। मन चंचल हो उठता है। रवि ठाकुर की पंक्तियां याद आ जाती हैं, मैं भी जैसे 'बासासाडा' पक्षी की तरह बाहर जाने के लिए तड़पता हूं :

'हेधा नय, अन्य कोथा, अन्य कोथा, अन्य कोन खाने'

(यहां नहीं, दूसरे कहां, दूसरे कहां, दूसरे किसी ठिकाने।)

कितना बड़ा देश है यह हमारा! पूरा जीवन घूमें तो भी पार नहीं आएगा। अकेले हिमालय के लिए एक जन्म कम पड़ेगा। फिर कितने पहाड़, नगर, समुद्र-तट! कितना भव्य अतीत! लगता है कि सब-का-सब घूम लें।

उसके साथ पोम्पी, रोम के प्राचीन खंडहरों में तथा एथेंस की पहाड़ियों पर घूमने की चाह है। जर्मनी की 'राइन' नदी के किनारे पुराने दुर्गों में और अल्डेननाल्ड—पुराने जंगलों में घूमने की चाह है। इच्छा है पेरिस और वियेना के राजमार्गों पर चलने की, लुव्र और ब्रिटिश म्युजियमों में कई दिनों तक बंद रहने की, काबुल, कांधार और समरकंद, बुखारा जाने की। लेकिन इनसे भी अधिक आकर्षण है तिब्बत-चीन का। तिब्बत तो अब रहा नहीं। अब नाम शेष हो गए, वहां के किसी प्राचीन मठ में बैठ प्राचीन ग्रंथों को पढ़ने का यदि अवसर मिला होता! मध्य एशिया के गोबी के मैदान में एकाध रणद्वीप में, किसी बौद्धविहार में यदि रहने को मिला होता! और जावा-बालि-सुमात्रा? बोरोबुदर का वह विराट मंदिर! कल्पना में बहुत बार इन सब जगह पहुंच जाता हूं। कल्पना के बीच स्थल काल के बंधन कहां रुकावट डालते हैं?

कभी कालिदास के मेघ के साथ यक्ष की अलका नगरी में गया हूं। स्वप्न-नगरी अलका, कैलाश के उत्संग में प्रेमिका की तरह बैठी अलका। इस स्वप्न-नगरी में आनंद के आंसुओं के सिवा दूसरे आंसू नहीं हैं। कामदेव के ताप के सिवा दूसरा ताप नहीं, प्रणय के कलह के सिवा दूसरा कलह नहीं, यौवन के सिवा दूसरी कोई अवस्था नहीं। वहां मंदाकिनी के पानी से ठंडी हवा चलती है और मंदार की छाया में कन्याएं सुनहरी रेत में मणि छिपाकर ढूंढने का खेल खेलती हैं। यहां का कल्पवृक्ष जो मांगो वह देता है। यहां कोई अभाव नहीं है, अशांति नहीं, मात्र सुख है। यह स्वप्न-नगर है—स्लाराफनलान्ड।

रवि ठाकुर कहते हैं जिसे 'सब पेयेछिर देश'। संसार के कलकोलाहल के बीच आदमी वहां कभी-कभी रह आता है। हर-एक की अपनी एक अलका नगरी होती है।

लेकिन घूमकर बहुत बार मैं अपने उस गांव की सीमा पर पहुंचता हूं। जैसे पूरे ब्रह्मांड में घूमकर वहां जा खड़ा होता हूं। छोटा था और स्कूल में पढ़ता था तब पुस्तक पर नाम के साथ पूरा पता लिखता था। पूरा अर्थात? अर्थात नाम, पिता का नाम, दादा का नाम, फिर अल्ल; फिर गली, मुहल्ला, गांव, तालुका, जिला और राज्य। फिर लिखता देश हिन्दुस्तान, खंड एशिया, फिर पृथ्वी और अंत में आता ब्रह्मांड। अब उल्टे क्रम से सब पार कर, गांव की सीमा पर।

वहां वह 'आंबा' तालाब है। बरसात में वह भर जाता है और गरमी में सूख जाता है। ठंड में अपने में सिमटकर पड़ा रहता है। उस 'आंबा तालाब' के मृगजल में मेरा शैशव खो गया है। वहां स्वयं लकड़ी काटकर लट्टू बनाए हैं और नचाए हैं। हाकी और गुल्ली-डंडा खेला है। बबूल की छाया में बैठकर बबूल के कांटे पांव से निकाले हैं, नंगे होकर नहाए हैं। उस तालाब के शिवाले से थोड़ी दूर गांव का श्मशान है। आंबा तालाब में वर्षों से अनेक चिताओं की आभा पड़ती रही है। उस श्मशान के निकट से ही मेरे खेत का रास्ता जाता है। बचपन में अंधेरा होने पर खेत से घर आते हुए सुलगती चिता के निकट से गुजरते हुए भय से चौंक उठा हूं। बहुत बार चिता जलाने वाले चले गए होते, श्मशान में मात्र चिता होती। धुंधलके की परछाईं में भूत के भ्रम से छाती की धड़कन बढ़ जाती। इस श्मशान में मेरे पूर्वज भस्मावशेष हो गए हैं। उनकी भस्म आंबा तालाब के आस-पास ही फैलकर, आस-पास के वृक्षों में उग आई है। क्या मैं भी अंत में यहां आऊंगा? यह मेरा गांव। भले यहां नदी नहीं है, पहाड़ नहीं है, जंगल नहीं है, सागर नहीं है, सरोवर नहीं है, लेकिन अब ये सब मेरे में हैं—सब कुछ।

लेकिन वहां अधिक रहना होना ही नहीं है। उस गजरामारू की तरह पिता के गांव से निर्वासित हुआ हूं। स्वेच्छा से। महानगर की सड़कों पर गरमी की किसी दोपहर में चलते-चलते उस निर्वासन का बोध तीव्र हो आया है। लेकिन संसार का रोज-ब-रोज का काम सबके साथ जोड़ देता है। लेकिन फिर शूल उठता है—हेथानय, हेथानय...

तब मन तेषां दिक्षु की जादुई खड़ाऊं पहन लेता है।

('विदिशा' से)

10

भाईराम

—चंद्रकांत सेठ

जो मेरे गहरे दोस्त हैं, वे सब जानते हैं कि मेरी भाईराम के साथ कितनी निकटता है। भाईराम और मैं कभी एक-दूसरे से अलग नहीं होते, यह कहें तो चलेगा। मैं सो रहा होता तो भाईराम मेरे निकट बैठकर मुझे पंखा झलता होता। मैं खाना खा रहा होता तो भाईराम मेरी बगल में पानी का गिलास भरकर बैठा होता। मैं स्कूल जाता तब भाईराम भी मेरे साथ-साथ पुस्तक पढ़ता हुआ चलता होता। मैं खेलना चाहता तब तो भाईराम ही अपनी उंगली ऊंची कर, मेरा साथी होने के लिए अपना नाम लिखवा देता। मैं भूखा होता तो भाईराम को बेचैनी होती। घर के अंदर, पिटारी में या अलमारी में, डिब्बे में या छींके पर, कहीं कुछ खाने की वस्तु ढंकी रखी होती तो वह ढूंढने-खोजने लगता। मैं प्यासा होता कि भाईराम प्याऊ या पीने के पानी के बरतन के पास पहुंच जाता। मुझमें इच्छा जागे उससे पहले ही भाईराम जैसे मेरी वह इच्छा जानकर उसे पूरी करने में जुट पड़ता। भाईराम साथ हो तो भय का नाम नहीं, कोई राक्षसी सपने ही मुझे क्यों न घेरे। उसकी उंगली पकड़ी और सब सलामत। भाईराम कभी मुझे अकेलापन लगने नहीं देता था, कभी मुझे पराधीन होने नहीं देता था। वह जैसे मेरे हाथ-पांव, मेरे आंख-कान—सब कुछ बनकर बैठा हो। वह कुछ अद्भुत सुनाता और मैं वह सुनता, वह अद्भुत दिखाता और मैं देखता। कौन जाने मेरे लिए उसे क्या-क्या नहीं करना पड़ता होगा? मुझे तो मात्र देखना था, लेकिन मुझे जो देखना था वह भी क्या, उसकी चिंता भी भाईराम को ही करनी पड़ती होगी न! मैं देख सकूं, ऐसे प्रकाश की व्यवस्था करने की भी चिंता उसी की होती होगी न! भाईराम मेरे सुख-दुख की जोड़-बाकी करने के लिए निरंतर अपना दिमाग दौड़ाता रहता।

इस भाईराम की दोस्ती के लिए मुझे गौरव है और गर्व भी। भाईराम के संबंध में बात करने का मुझे यदि अवसर मिलता है, तो मैं उसे खोता नहीं। उसकी बातें करने में मुझे इतना रस आता है, जितना गाय को अपने बछड़े को दूध पिलाने में। कोई-कोई

साथी-मित्र कौतूहलवश मुझसे पूछता भी है, 'यह भाईराम कौन है? उसका नाम क्या है?' और ऐसे सवाल के समय, सच कहूं? मैं शरम के भार तले जैसे दब जाता हूं—घबरा जाता हूं। जो मेरे इतने निकट हो, उसके विषय में मैं इतना अधिक अपरिचित! यह भाईराम कौन है—इस विषय में तो मैंने सोचा ही नहीं। हां, इतना पता है कि जबसे मैं समझदार हुआ हूं, तबसे मैं उसे अपने साथ ही देखता हूं। मेरे भाई-बहन, माता-पिता, सबके साथ मैंने उसे देखा है। जब-तब भाईराम के चेहरे पर मेरे सभी स्वजनों की और मित्रों की उदारता की भनक मुझे लगती है। वह कभी अपरिचित या अजनबी लगा ही नहीं है। मुझे अपने संबंध में प्रश्न होना तो उसके संबंध में भी होगा ही न! मुझे अपने परिचय में अपने नाम की जरूरत होनी है तो उसके नाम की भी जरूरत पड़ेगी न! लेकिन साथी-मित्र यदि सवाल करता है तो उसे संतोष हो, ऐसा उत्तर मुझे ढूंढना ही होगा। और भाईराम मेरी घबराहट देखते ही खुश हो उठता है। जैसे मोगरे की कलियों की एक पुड़िया ही खुल गई। मीठी-मीठी, उजली-उजली महक। मेरे सवाल का उत्तर उस महक में ही फैल रहा था जैसे। फिर भी मैं मुखरता टाल नहीं सकता, पूछता, "भाईराम, कहो तो सही, मैं तुम्हें क्या कहूं? 'आकाश' कहूं? 'शैल' कहूं? 'सूर्यकांत'? तुम्हें 'दिव्यकांत' कहूं या 'वसुंधर'? अथवा तुम्हें 'टीपू' या 'टीनु', 'महासुख बंदर' या 'बगल बिलाड़' कहूं?" मैंने कई-कई नाम लिए और हर एक नाम के साथ जैसे एक मोगरे की कली उसकी मुस्कान में खिलती थी। मैं तो हजारों नाम के घने जंगल में भटक गया—शक्कर के ढेर में कोई चींटा भटक जाए इस तरह। अंत में थककर मैंने उससे कहा, "कहता हूं, इन सबमें से कोई एक नाम—भाई साब...भाईराम...और..." और यह 'भाईराम' मेरी जबान पर अटक गया, बस गया। उसे तो आपत्ति का प्रश्न ही नहीं था। मैं तभी से उसे 'भाईराम' नाम से ही पुकारता हूं।

'भाईराम' नाम मिला तो अच्छा-भला, पते का सवाल उठा। मुझे कहां उसकी जरूरत थी? वह तो यहीं रहता है। जहां मैं हूं, वहां वह। फिर भी कौतूहल एक विचित्र वस्तु है। 'हाथ है'—यह हम कहें तो इससे कौतूहल की तृप्ति नहीं होगी, वह तो हाथ में हाथ लें तभी तृप्ति अनुभव होगी। मैंने तो कभी भाईराम से पूछा नहीं है कि तुम कहां से आए? मेरे साथ कब तक रहोगे? फिर तुम कहां जाओगे?—ये सब प्रश्न मुझे निरर्थक लगते हैं—कहूं कि व्यर्थ लगते हैं। इन सब प्रश्नों के लिए तो उसके पास है केवल एक मोहक मधुर मुस्कान—मोगरे की कलियों के गुच्छे जैसी। फिर भी कौतूहल का जो सुर चढ़ा वह कुछ यों ही छूटता। वह हजार जबानों से जैसे कहता..'तुम्हारा पता क्या? तुम्हारा पता क्या?' नहीं है कोई चिट्ठी-पत्री भेजने का सवाल, नहीं है कोई संदेशा भेजने का सवाल, और फिर भी यह छेड़छाड़—यह शरारत। भाईराम तो स्वस्थता का सागर है, प्रसन्नता का पारावार है। वह तो सहज रूप से ही कहता : "तुम्हारा जो पता, वही मेरा...तुम्हें फिर क्या घबराहट है? किसी भी पते पर पत्र लिखो, लेकिन मुझे संबोधित

किया गया होगा तो पहुंच जाएगा मेरे पास। अरे, बिना पते के पत्र भी मुझे मिल जाते हैं। और फिर देखो मैं तो तुम्हारे साथ ही हूं...तुम्हें अपने पते की जरूरत है फिर तो मेरे पते की भी होगी।" मैं उसके तर्कों से खामोश हो जाता। मैंने अपने भाईराम से नाम-पता पूछकर एक प्रकार से उसके साथ अपने अलगाव का भाव ही प्रकट किया, जो उचित नहीं था, नहीं ही था। लेकिन भाईराम के साथ का संबंध ही ऐसा है कि उसमें थोड़ा उल्टा-सीधा हो जाता है, लेकिन वह बहुत उदार है और इसलिए अंत में तो सब बराबर कर घी की जगह घी जैसा कर देता है। उसकी यह हिकमत और हकूमत दोनों ऐसे हैं कि सभी प्रश्न अंत में हल होकर ही रहते हैं।

भाईराम सदा मेरे आनंद का ही ध्यान रखता। वह कितना अधिक मेरे लिए करता! जरा-सी धूप हुई नहीं कि ठंडी लहर के साथ वह सेवा में उपस्थित हो जाता। जरा भी स्तब्धता जैसा लगा तो तुरंत उसका आरकेस्ट्रा तैयार। तरह-तरह की आवाज और तरह-तरह की ताल। झरने की झनकार और पत्तों की मरमर, पक्षियों की चहचहाहट और भंवरों का गुंजार, अनिल (पवन) की बंशी और मेघ का मृदंग—सबका एक संवाद भरा संगीत। कैसे-कैसे वेश और परिवेश नजरों के सामने रखता वह। बादलों की तरह जिस सिफ्त से वह अपने रंगीन वस्त्र बदलता, जिस तरह रंग लेकर वह फूल-फूल पर तितलियों के साथ उपस्थित होता, जिस तरह वह रंग-रंग के पत्थरों में और पंखों में, जल की तरंगमाला में अपनी रूपरेखाओं के अपूर्व आकारों को उभारता, मैं तो यह सब देखकर मुंह में उंगली रख लेता। मेरा भाई भाईराम इतना बड़ा जादूगर होगा, इसका तो पता ही नहीं था। वह इतना गहरा होगा, इसकी तो थाह ही नहीं थी। उसकी यह सारी जादूगरी जानने के बाद, उसे अपने जैसा ही मान लेना ही मुझे ठीक लगता! मैं तो मानता था कि भाईराम की आंखों पर पट्टी बांधी कि भाईसाहब जैसे अंधी दीवार। भाईराम के हाथ रुमाल से बांधे कि भाई साहब लाचार! जरा बाघ का मोहरा दिखाया कि ठंड के दिनों जैसे ठंडे हो जाते! कुट्टी की कि भाई साहब रोते-रोते अपने पास आएंगे ही! लेकिन यह तो कुछ ईदम् तृतीयम् लगता है। शायद जो मैं भाईराम के साथ करना चाहता था, वह भाईराम मेरे साथ कर सकता था...

और भाईराम, आपसे कहूं?—उससे जब मैं महान जादूगर की बात करता था, तब गरमी के टेसू की तरह वह हंस देता और कहता, "भाई, यह सब भूल जाओ...जाकर घर में से कटोरी भर दूध-चूड़ा उठा लाओ, हम खाएंगे और फिर दौड़कर आंख-मिचौली या दूसरे बहुत-से खेल खेलेंगे।" मैं भी स्वभाववश उसकी बात में तुरंत आ जाता और दांव पक्काकर उससे कहता, "चलो, तुम आंखें मूंद लो। मैं छिप जाऊं।"

भाईराम खुशी से, बारीक आंखों से मुझे देखता हुआ स्वीकार कर लेता और एक...दो...तीन...गिनता हुआ आंखें बंदकर दीवार की तरफ मुंह करके खड़ा हो जाता। मैं जल्दी से कहीं छिपने जाता कि मुझे यह लगता, भाईराम से यह जगह अपरिचित

नहीं है। फिर भाईराम की आंखें जैसे मुझे देख ही रही हों. ऐसा लगता। एक बार तो मैंने कह भी दिया, "भाईराम, तुम तो मुझे छिपते हुए देख ही लेते हो।" लेकिन तब भाईराम ऐसा हंसता कि मैं उस पर आक्षेप करने के लिए लज्जित हो उठता। मेरा भाईराम खेल में बेईमानी करे, यह कैसे हो सकता है? मैं चाहे जहां छिप जाऊं, लेकिन मुझे तो वहां भाईराम की छाया दिखती रहता। इसमें दोष मेरा था या उसका? मैंने देखा कि भाईराम से मैं छिप पाऊं, यह शायद संभव नहीं। वह मेरी कठिनाई समझ गया, उसने खेल के प्रति प्रसननता के भाव से मुझे कहा, "चलो, मैं हार गया...फिर से खेलें...अब तुम मुझे पकड़ना।" मैंने उत्साहपूर्वक कहा, "मंजूर।" मैं तो अपनी जीत के संबंध में पक्का श्रद्धावान था। वर्षों से भाईराम को जानता हूं, छटककर भी कहां छटकनेवाला है भाई साहब? हाथ बढ़ाया कि उसके कुरते की पकड़ मेरे हाथ में। लेकिन सचमुच खेल जब शुरू हुआ तब तो मेरी कठिन कसौटी हो गई। भाईराम के मेरे निकट होने की पक्की भनक होती और मैं पूरी तरह तैयार हो जाता, लेकिन निष्फलता हाथ लगती। भाईराम मेरी पुस्तक में मुह डालकर मेरे साथ पढ़ता हो, ऐसा लगता, लेकिन न तो उसकी आंख हथेली से दबा पाता, न उसका हाथ पकड़ में आता। किरण का जंतर बजाता उस टूटी खिड़की पर चढ़ा हुआ लगता, लेकिन खिड़की के पास जाता तो वहां कुछ नहीं, केवल चमकते आकाश का नीलरंगी समुद्र। भाईराम के पद-चाप की हल्की-हल्की सुगंध फूलों से पकड़ में आती, लेकिन हवा की डोर से भी वह भाईसाहब अटपटे दांव करते हुए छू! कितनी-कितनी आंख की, कान की, नाक की-ऐसी-ऐसी चौकसी की, लेकिन सबको पारकर वह साहब तो सही सलामत पार। मैं तो समझ गया कि भाईराम यदि दीवारों के बीच भी पकड़ में नहीं आता, हमारी नजर की सीमा में भी नहीं आता, तो वह हाथ तो क्या आएगा? मैं थक गया। सच कहूं तो मुझे ऐसा भी लगा कि इस तरह खेल के बहाने भाईराम मुझे चकमा देकर, सफाई से छिटककर हमेशा के लिए तो मुझसे दूर नहीं चला जाएगा? आंख से एक बूंद गिर पड़ी, सहज ही मेरी हथेली में अटक गई और उसमें देखता हूं तो मेरे भाईराम की खिलखिलाकर हंसती मूर्ति। तब मुझे संतोष हुआ...। भाईराम ने तब मेरी पीठ पर हाथ रखकर बिलकुल निर्दोष भाव से कहा, "चलो, बहुत खेल चुके, अब जरा खाएं-पीएं और आराम करें।" और मैं तो उसके साथ जैसे सुनहरी ईख के खेत में ही जा पहुंचा। मैं ईख का गांठवाला हरा तना काटता और वह गट-गट चूसता। उसके चेहरे पर जो गुलाबीपन था! वह कितना तो अनोखा था। मैंने उस ईख के पत्तों पर से आंसू की बूंद निकलती हुई भी कितनी बार देखी सुनी है।

भाईराम के साथ मेरा रूठने-मनाने का नाता है। मैं चिढ़ाता हूं, फिर भी उसे अच्छा लगता है। शुरू में तो वह जैसे मेरे लिए एकदम लापरवाह हो, इस अदा के साथ रहता। मैं अपने घर की चौखट पर हथेली में मुंह छिपाकर, आंखें बंदकर बैठा होता और वह

भाईसाहब खेल खेलते होते। गिलहरी की तरह सीटी बजाते, कबूतर की तरह गोल-गोल घूमते, गुटरगूं करते, बंदर की तरह पेड़ों पर कूदते, बिल्ली की तरह म्याऊं-म्याऊं करते, एक के बाद एक कोने में छिपते, मेंढक की तरह पांव से कूदते और गाय की तरह रंभाते और फिर गर्दभ की तरह लोटते। कितनी बार मक्के के बाल की मूंछ और टोकरी का मुकुट और कौए के पंख की कलगी—यह सब सज-सजाकर बहुरूपिया बन भाईराम मेरे सामने तरह-तरह के दांव-पेंच आजमाते। पर मैं भी उसका दोस्त था न। मेरी जिद भी फौलादी...इस तरह हंस पड़ता कि कुछ हुआ ही न हो। फिर तो वह भी बेचैन हो जाता और एकाएक उसे कोई उपाय सूझ जाता। वह कहीं से एक गुब्बारा ले आता, फुलाना शुरू करता। जैसे-जैसे गुब्बारा फूलता जाता, वैसे-वैसे उसके गाल व उसका पेट भी फूलता जाता। एक धमा-चौकड़ी वाला अस्तित्व। मैं भी कतराती नजरों से देखता रहता कि कौन पहले फूटता है, गुब्बारा या उसकी तोंद? लेकिन गुब्बारा ही फूटता है। भाईराम उसकी आवाज से धरती पर अंटाचित्त। मैं एकदम दौड़ पड़ता। पर वहां तो भाईराम स्वस्थ, फूल के पौधे की तरह हट्टा-कट्टा, मेरे स्वागत के लिए तैयार। कितनी-कितनी गांठें लगाकर, बंदकर रखा गुस्से का पोटला छटककर चटक पड़ता, जैसे फूल की झोली ही चटक पड़ी हो। सर्वत्र एक स्वस्थ गुलाबी ताजगी की अबाधित महक।

भाईराम की इस तरह की शरारत का पार नहीं। हम किसी कवि की सिली हुई नई कोरी धूप पहनकर बैठे हों और भाईराम बादल की पीठ पर तरह-तरह के रंग लादकर हाजिर। सेर पर सेर। हमारा तो असली रंग ही कौन जाने किस-किस रंग में मिलाजुला देता। हमने कोई कीमती मोती हाथ में लिया होता, मुट्ठी में छिपाया होता तो भाईराम की काक दृष्टि वहां गए बिना न रहती। भाई साहब गंभीर होकर एक इमली की छाया में बेंत की बंशी बजाने बैठते और तब हमें हमारी हथेली में रखा मोती भी व्यर्थ लगता। आंखों के आगे उस बंशी का स्वर, मोती के लचकते गुच्छों जैसे झूमते दिखते। भाईराम के चरणों में फिर मुट्ठी का मोती रखे बिना छुटकारा नहीं था।

भाईराम सभी ऋतुओं में, सभी खेलों में साथ होता। बरसात आती और खपरैल से पानी टपकता कि भाईराम कागज की नाव के साथ आया ही समझिए। एक बार मुझसे कहा, "चलो, हम उस नीम की मेड़ में अपनी नाव तैराएं।"

मैंने कहा, "लेकिन उस नाव में बैठेगा कौन, यह पहले तय हो जाना चाहिए।" और हम दोनों पीठ पर बरसात की बूंदों की थपथपाहट सहते, नाव में बैठने का स्वाधिकार छोड़ ममता में पड़ गए। हमें एकाएक हमारी नाव की क्षणभंगुर काया का पवित्र भान होता। फलस्वरूप हम अपने अंगत उच्च आग्रहों को छोड़कर एकमत हो जाते। कर्तव्य की दृष्टि से यह अनिवार्य था। हमने एक चींटी को ही महारानी के रूप में उस नाव पर बैठाने का शिव संकल्प किया और नाव चींटी रानी का भार उस बहती नाली में उठाए रही। भाईराम न जाने कब तक उस नाव को देखता रहा, नाव अदृश्य हो गई तब भी

वह तो जैसे उसे ही निहार रहा था। उसने मुझसे पूछा, "भाई, उस चींटी रानी का क्या हुआ होगा?" मैं कुछ जवाब नहीं दे सका और भाईराम ने तो यह प्रश्न सात दिनों में कम-से-कम सत्तर बार तो पूछा ही होगा।

बिना भाईराम के अपनी हैसियत मैं सोच भी नहीं सकता, ऐसी मेरी भाव-स्थिति है। भाईराम मेरी छोटी-से-छोटी सुविधा के लिए तैयार रहता है। मैं नहाकर बाहर निकला कि भाईराम खड़ा ही होता, शीशे के साथ मेरी राह देखता। मैं घर से बाहर जाता कि उसका अधीर घोड़ा आंगन में थिरकता होता। मैं बाहर से थककर आता तो भाईराम पानी के गिलास के साथ तैयार। भाईराम अनेक रूप मे, अनेक तरह मे, मेरे साथ ही घूमता रहता है। कितनों को उसके विषय में भ्रम भी हो जाता। कोई कहता, "हमने तो भाईराम को कश्मीरी टोपी पहने देखा था।" मुझे मालूम है कि मेरे घर के किशन काका ही कश्मीरी टोपी पहनते हैं। फिर दूसरा कोई कहता, "भाईराम ने तो बादली रंग की शॉल ओढ़ी थी।" मुझे यह भी मालूम है कि मेरी मां देव-दर्शन के लिए जाती तब वह शाल ओढ़ती है। कोई भाईराम के हाथ में बैंक की किताबें (बही) देखता है—जो कि शाम को बैंक से वापस लौटते वक्त मेरे पिता जी के हाथों में होती हैं। मुझे अब लगता है कि भाईराम को शायद मेरे जैसे कपड़े पहने भी किसी ने देखा होगा। भाईराम है ही ऐसा, उसके विषय में तरह-तरह की बातें न हों तो आश्चर्य लगता।

भाईराम मुझे निरंतर खुश देखना चाहता, प्रसन्न देखना चाहता। कुछ गलत करता तो वह, कौन जाने, कैसे उदास हो जाता! उसकी वह उदासी मुझसे सहन नहीं होती। दो दिन पहले मैंने एक कबूतर के अंडे को एक छोटा-सा पत्थर का टुकड़ा मारकर तोड़ दिया था। अंडा देने वाली कबूतरी की अपेक्षा भाईराम अधिक व्यग्र हो गया था। कोई छोटा बालक आ जाता और मैं उसके हाथ में एकाध चाकलेट रखता तो भाईराम खुश-खुश हो जाता...। भाईराम के लिए भी मैंने तय किया है कि कोई पक्षी पानी के कुंडे के पास आकर बैठेगा तो उसे उड़ाऊंगा नहीं। मैं पेड़ से खिला फूल तोड़ता तो जैसे भाईराम की जान निकल जाती। अब तो मैं फूल को पेड़ पर खिला हुआ देखकर खुश हो जाता हूं और पंख पर उंगली फिराकर उड़ते पक्षी को आकाश के साथ ही स्पर्श कर लेता हूं।

मेरे लिए तो भाईराम का साथ, यही मन-पसंद मिठास है। भाईराम की प्रसन्नता ही अब तो मेरी प्रसन्नता है। मैं जानता हूं, जब मैं उस अंधी राधा मां की लाठी पकड़कर उसे उसकी कुटिया तक पहुंचा आता हूं, तब भाईराम का चेहरा, पहली बरसात के बाद की वन-सृष्टि जैसा चमक उठता है। जब मैं करसन काका की बीमार लड़की को दो सेव देने गया, तब भाईराम के चेहरे पर जैसे सेव का लाल चटक उजास उतर आया। शायद सुबह जल्दी आप आकाश में देखें तो उसका अंदाज लगा सकते हैं—यदि लगा सकें तो।

भाईराम को छोड़ने की तो अब बात ही नहीं है। यह बात ही एकदम अनुचित लगती है मुझे तो। अब तो बस, हमारी-भाईराम की मंडली कैसे बराबर जमी ही रहे, यही चिंता है। भाईराम मिला है तबसे चाहे जो हो जाए, लेकिन उसकी दोस्ती न टूटे, इस बात का पक्का निर्णय करके मैं बैठा हूं, और भाईराम तो मेरे इस निर्णय से ही जाने कितना ऋण-भार अनुभव करता है। खूब है यह भाई—यह भाईराम! दुश्मनी की उलझन की अपेक्षा दोस्ती में अधिक उलझन होती है! —देखिए तो सही!

('नंद सामवेदी' से)

11

जाड़े की सुबह की धूप

—वाडीलाल डगली

यों तो वेरावल और अहमदाबाद के बीच बहुत अधिक अंतर नहीं है, लेकिन आज से लगभग पैंतीस वर्ष पहले वेरावल की 'दिलावर खानजी हाईस्कूल' और अहमदाबाद की 'ची. न. विद्याविहार' के बीच एक युग जितना अंतर था।

विद्याविहार में मैं दाखिल हुआ तब बड़ी-से-बड़ी चिंता यह थी कि छात्रालय की फीस के सात रुपए कहां से लाए जाएं? बीमार पति की दवा के लिए तथा घर के सबसे बड़े बेटे की पढ़ाई के लिए अंतिम दो सोने की चूड़ियां गिरवी रखीं? इस समस्या का हल मेरी मां नहीं कर सकी तब पिताजी ने कहा, "इसे इस उम्र में बाहर भेजने की बात मैं आज से दो वर्ष पहले सोच भी नहीं सका होता, लेकिन अब तो लगता है कि परिवार को क्षेम-कुशल रखना हो तो उसे पढ़ने भेज ही दें।" ऐसी विडंबना होने के बावजूद मैं जब विद्याविहार में आया तब वेरावल की दिलावर खानजी हाईस्कूल और अपने परिवार को भी मैं क्षणभर के लिए भूल गया। चित्त पर विद्याविहार की ऐसी छाप लगी कि मेरा मन खुल गया। मन में हुआ कि एक ही गुजरात की दो भूमियों में इतना बड़ा अंतर! सच पूछें तो मैं अमरीका पढ़ने गया तब पहले दिन ही जो प्रत्याघात लगा वह विद्याविहार के प्रथम दिन की तुलना में कुछ भी नहीं था।

मुझे विद्याविहार की पांच चीजों ने बांध लिया : स्कूल में ढेरों लड़कियां, एकदम नए सुर के गीत, आम के बगीचे के बीच स्कूल, चर्चासभा और एक-सरीखी पोशाक (यूनिफार्म)। वेरावल के स्कूल में एकाध भूली-भटकी लड़की पढ़ती होती। लेकिन जब एक शाम मैंने पहली बार विद्याविहार देखा तब मुझे लगा कि भूल से मैं किसी बालिका स्कूल में तो नहीं आ गया हूं! नवाबी गांव में पले-बढ़े लड़के को यह कहां से पता होगा कि लड़कियां भी लड़कों के जितनी ही होशियार हो सकती है? यह तो समझ में आया कि लड़कियों को भी पढ़ना चाहिए। लेकिन जब कक्षा के पहले दिन अनुसूया मोरारजी देसाई को मानिटर का काम करते देखा तब मैंने बगल

में बैठे सहपाठी से कहा, "यहां अहमदाबाद में लड़कियां ही मानिटर होती हैं?"

कई दिनों तक मुझे ऐसा लगा कि इसकी अपेक्षा मुझे कहा जाता तो मैं मानिटर का काम करता। मैं मात्र डेढ़ साल में स्कूल का महामंत्री बना, इसका प्रेरक बल इस पहले दिन के स्वमान-भंग का प्रभाव तो नहीं होगा? पाठ्य पुस्तकों में कविताएं पढ़ीं। स्कूल में कई बार समूह में प्रार्थना भी गाई। लेकिन मैं विद्याविहार में आया तब तक गीत और कविताएं मेरे लिए किसी संग्रहालय के चित्र जैसे थे। लेकिन जब मैंने 'तारा, तारा, आसमान का तारा' जैसे गीत सुने तब मेरे लिए गीत जीवित मनुष्यों की तरह चलते-फिरते बन गए। पुस्तकों में छपे गीत मेरे एकांत के मित्र बन गए। एकांत की बात करता हूं तब यह कह दूं कि छात्रालय की पहली रात मैंने जिस एकांत की व्यथा अनुभव की थी वैसी व्यथा जिंदगी में भाग्य से ही अनुभव की होगी। बिस्तर पर लेटा-लेटा घर को याद करता, लेकिन जाता कहां? मेरे लिए घर छोड़ने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं था। इस स्थिति में गीत स्वजन जैसे मधुर लगे। आप शहर के बीच किसी स्कूल में पढ़े हों तो विद्याविहार के आम के बगीचे की महिमा आप समझ सकेंगे। मैं विद्याविहार में दाखिल हुआ तब आस-पास के वृक्षों को देखकर मेरा मन नाच उठा। स्कूल के पास इतनी अधिक जमीन होगी और उस जमीन पर ऐसे सुंदर वृक्ष होंगे, इस बात की कल्पना भी मैं वेरावल में नहीं कर सकता था। मुझे सबसे पहला विचार यह आया कि यहां तो बगीचे में घूमते-घूमते पढ़ना है। अभी भी जब मैं विद्याविहार का विचार करता हूं तब मेरे चित्त के समक्ष सबसे पहले आम का बगीचा, झीणा भाई, भास्कर भाई और स्कूल का प्रार्थना मंदिर साकार हो जाता है।

किसी विषय पर खुली चर्चा की जा सकती है, इस बात का अनुभव भी मुझे विद्याविहार में ही हुआ। मैं भी चर्चा-सभा में बैठा और चमका। पहली ही चर्चा-सभा में बोलने के लिए उठा और 'ना' के बदले काठियावाड़ी 'नॉ' बोला तब हास्य की लहर दौड़ उठी। इतना ही नहीं, जब एक बार तीन लड़कियां जा रही थीं, उनमें से एक बोली "हम ऐसी नॉ बोलें" और तीनों हंस पड़ीं। मैं घायल हुआ। एक बार अनसूया बहन ने मुझे कहा, "आप ऐसा नॉ करें।" तब मैंने तुरंत सुना दिया, "एक बार सार्वजनिक सभा में बोलकर देखें, फिर मुझे कहें।"

मैं आठ ही महीनों में इस चर्चा-सभा का मंत्री कैसे बन गया, इस बात का आश्चर्य आज भी मुझे होता है। मुझे यह लगता है कि इसका श्रेय 'नॉ' को जाता है।

ब्लू पैंट और सफेद कमीज—खद्दर की एक सरीखी स्कूली पोशाक मुझे पहली नजर में अच्छी लग गई, लेकिन कठिनाई यह थी कि मेरे पास दो से अधिक स्कूली पोशाक खरीदने के पैसे नहीं थे। इसलिए मैं अपनी पोशाक की किसी गहने की तरह रक्षा करता रहता। मुझे इस स्कूली पोशाक का सबसे बड़ा गुण यह लगा कि इससे सब एक-सरीखे दिखते। मिल-मालिक का लड़का, मिल-मालिक के घर। यहां तो सभी लड़के एक-सरीखे।

पोशाक के कारण पूरा स्कूल एक-सरीखा दिखता। यह मुझे अच्छा भी लगता। उन दिनों स्कूली पोशाक के मधुर परिणाम का मुझे पता नहीं था। वर्षों बाद शस्त्र पूजा का विरोध करता 'यूनिफार्म की आरती' शीर्षक से एक लेख मैंने 'संस्कृति' (मासिक) में लिखा तब भी मुझे यह तो लगता ही था कि स्कूल के अलावा कहीं दूसरी जगह यूनिफार्म नहीं होनी चाहिए। बड़े लोग यूनिफार्म पहनते हैं, तब मुझे उसमें बंदूक के बारूद की गंध आती है।

यों देखें तो ये पांचों कोई असाधारण बात नहीं है, लेकिन इन चीजों का मेरे चित्त पर जो प्रभाव पड़ा, वह इतना प्रबल था कि मैं जैसे कोमल और कलरव करती दुनिया में जा पहुंचा होऊं। विद्याविहार में आया, उससे पहले जाड़े की शाम में मैं घूमता होऊं, ऐसा लगता। विद्याविहार के प्रथम परिचय का वर्णन करना हो तो यों कहूंगा कि वहां गया और जाड़े की सुबह की धूप मिली। मन कुछ करने-करने को होने लगा। ऐसे वातावरण में मुग्ध विद्यार्थी कविता नहीं करें तो आश्चर्य ही! विद्याविहार में आया उससे पहले उल्टी-सीधी तुकबंदी जैसी कविताएं लिखी थीं। लेकिन यहां तो बिना छंद आगे बढ़ें तो कविता को शर्म लगेगी। इसलिए एक बार मैंने 'तारा को' शीर्षक से एक सानेट लिखा और उसकी पहली पंक्ति में पूछा :

'मित्र क्या बैठे हो नभ पर बनकर फरिश्ता?'

यह सानेट लेकर मैं गया झीणाभाई के पास। उन्होंने लेटे-लेटे इस कविता की तरफ देखा और कहा, "पहली पंक्ति में एक अक्षर कम है। इस छंद में सत्रह अक्षर होते हैं।" मैंने उन्हें नए कवि के मिजाज से कहा, "साहब, भले ही सिखाऊ रहा। मुझे यह पंक्ति बिगाड़नी नहीं है।" फिर उस सानेट का क्या हुआ, यह मुझे पता नहीं, लेकिन झीणाभाई के साथ की बातचीत के बाद फिर मुझे लगा कि हम भी कुछ लिखें। विद्याविहार ने मुझ पर कितने ही उपकार किए हैं। उसमें सबसे बड़ा उपकार यह है कि उन्होंने मुझे लेखक बना दिया। आज मेरा व्यवसाय लिखने का है। उसका बीज चाहे जहां पड़ा हो, लेकिन उसके अंकुर आम के बगीचे में फूटे थे। लिखा जा सके, ऐसी श्रद्धा मुझमें सबसे पहले विद्याविहार में उत्पन्न हुई थी। विद्याविहार में आए एकाध वर्ष हुआ होगा कि तभी कवि श्री रवींद्रनाथ का अवसान हुआ। उन्हें श्रद्धांजलि देने के लिए एक कविता लिखने का मन हुआ। छंद कौन-सा लिया जाए? सिखाऊ ही तो था। इस बार एक अक्षर कम नहीं हुआ। वह काव्य 'विद्याविहार' वार्षिक में छपा। उस कविता की आज मुझे एक पंक्ति ही याद है—

'कवि तू, द्रष्टा तू, भवरणमहीं मुक्त झरणुं!'

('शियाला नी सवार नो तड़को' से)

12

नदी-विच्छेद

—भगवतीकुमार शर्मा

गए तब केवल आनंद का भाव था। वापस लौटे तब भी मन में मौज लहरा रही थी। फिर भी उसके भीतरी स्तरों में किसी सूक्ष्म विषाद की झाईं से छटा आह्लाद अवश्य था। पिछले रविवार की बात है। अभी बरसात खास शुरू नहीं हुई है, इसलिए सुबह उजाला जल्दी फैल जाता है। ऋतु-ऋतु की सुबह और उन सुबहों के उजाले-धुंधलेपन का अवलोकन करते रहें तो भी जिंदगी सार्थक लगेगी। ग्रीष्म की सुबह अलग, शुरू होती ग्रीष्म की, खत्म होती ग्रीष्म की, वसंत और ग्रीष्म की या ग्रीष्म और बरसात के संधिकाल की, बरसात और शरद के संधिकाल की सुबह जुदा—उसकी आभा भिन्न, उसका स्वभाव अलग, किसी के सौंदर्य की बराबरी नहीं। फर्क मात्र अपनी दृष्टि में होता है। हर एक ऋतु के भोर के सूर्य का मिजाज भी अलग—कभी कोहरे से घिरा हुआ, कभी आकाश का सम्राट, कभी संशयात्मा अर्जुन के जैसा, कभी सकल दुविधा भाव का छेदन करते कृष्ण जैसा।

साढ़े छह तक गांधी-प्रतिमा के निकट पहुंचे तब तो स्नानार्थियों की आवा-जाही शुरू हो गई थी। एक मित्र को देर हुई थी—दूर, कालेज से आने वाले थे, इसलिए हम प्रतिमा के पास की रेलिंग पर बैठे। वर्षों से इस तरह बेपरवाह बन कहां बैठक नहीं जमाई थी—गृहस्थी की डोर इतनी सख्त बन चुकी है। यों भी मैं कुछ कंडीशंड आदमी हूं। अलगावपन मुझमें लगभग नहीं है। अब उसे विकसित करना भी संभव नहीं। कभी मैं इस गुण के लिए तरस पड़ता हूं। अवसर मिले तो जागरण करना, देर रात किसी ठेलागाड़ी पर ढिबरी की रोशनी में पाव-भाजी झपटना, सुबह धूप सिर पर चढ़ आती तब तक सोते रहना, बिना किसी कारण आफिस में अनुपस्थित रहना, प्रहरों तक व्यर्थ बातें करते रहना, निरुद्देश्य, बिना किसी के साथ, स्थल की पूर्व योजना किए बिना, भटकने निकल पड़ना, तरह-तरह के लोगों के परिचय में आना, अपने स्वभाव के विपरीत स्वभाव के व्यक्ति के साथ निःसंकोच घुल-मिल जाना, नियत समय का निर्दय रूप से पालन न करना—यह सब मेरे अनुकूल नहीं आया है। इस कारण मैं कभी-कभी

मन-ही-मन पीड़ित हुआ हूं, मथा गया हूं, रेलवे के समानांतर पटरियों की तरह या म्युनिसिपैलिटी के बिल की तरह एक समान, नियमित—और उससे नियंत्रित बनी जिंदगी के लिए अरुचि हुई है।

और इसीलिए ही, सुबह जल्दी साधारण रूप से जहां निकम्मे, गुंडे, आवारा लोग, बूट पालिश वाले सड़कों का अड्डा होता है, उस रेलिंग पर पांव फैलाकर बैठने में रोमांच का अनुभव हुआ।

ऊपर से हमारी वेशभूषा! हमेशा साफ-सुथरे पैंट-शर्ट पहनने वाले हम उस वक्त मात्र पाजामा और कमीज में थे। मैंने धोती यानी कि गमछा[1] और बनियान पहनी थी और पांव में चपपल भी नहीं थी। और एक ने तो हाफ पैंट ही पहना था। (पुरुष घर में पहले अधिकतर टापलेस ही रहते—सर्दी को छोड़कर। उनके लिए अंगरखा, कोट, कुरता या बंडी अथवा शरीर की अपेक्षा सिर पर टोपी या साफा का विशेष महत्व रहता। कितनी ही बार पिताजी को नंगे पांव, धोती या गमछा पहनकर और सिर पर टोपी लगाकर बाहर आते-जाते देखा है। बहुत हुआ तो दुपट्टा ओढ़ लिया होता। टोपी पहने बिना पत्र या हिसाब तक नहीं लिखा जाता था। टोपी-शून्यता यानी मृत्यु की घटना, यह ग्रंथि उस जमाने के पुरुषों में कील से भी अधिक दृढ़ता से अंकित थी।) आंखों को और मन को सब नया-नया लगता था।

---

1 यह 'गमछा' संस्कृति तो अब लगभग लुप्त ही है। गमछे-परदनी आदि की एक संस्कृति ही थी। घर में पुरुष गमछा ही पहनते। स्नान के समय परदनी या गमछा लपेट लेते। उन दिनों बाथरूम नहीं, बल्कि खुली जगह में मेंड़ बनी हौदी होती थी और उसमें 'बर्थ डे सूट' पहनकर कभी नहाया नहीं जा सकता था। याद है, पिताजी बाद में घर में नए बने बाथरूम में नहाते जरूर, लेकिन गमछा पहनकर और स्नानगृह का दरवाजा अधखुला रखकर ही। गमछा फिर कितने-कितने काम आता—बाथिंग कास्ट्यूम या नाइट-सूट से लेकर हाथ का रुमाल और साफा-कमरबंद तक की जरूर भी पूरा करता। उसका कटे तरबूज के गूदे जैसा लाल रंग। पीले तथा धुंधले पड़ गए गमछे। आज से चालीस-पचास वर्ष पहले, शहरों में भी वृद्ध, युवा और प्रौढ़ चबूतरों पर बैठकर ही बाल कटवाते, और वह भी गमछा पहनकर। फिर बिना नहाए किसी को स्पर्श तक न करते। उस समय की स्त्रियां शौचालय हो आने के बाद स्नान जरूर करतीं और कभी इसमें कुछ पुनरावर्तनों के अवसर उपस्थित होते, तो हौद के पास की खूंटी पर साड़ी लटकाकर निःसंकोच निर्वसनावस्था में हौद में दो लोटे बहा लेतीं। अच्छी तरह याद है, पिताजी स्नान करने के समय शरीर की अपेक्षा भी पहना हुआ गमछा एक-एक इंच भींग जाए इसका विशेष आग्रह रखते। हमारी स्नान महिमा और उसकी क्रिया-प्रक्रिया के संबंध में तो पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है। हौद से लेकर समुद्र-स्नान तक फैली हमारी स्नानधारा का फलक ही कितना बड़ा है! और उसकी 'फ्रीक्वेंसी' विदेशियों को और विधर्मियों को तो चकित कर देने वाली है ही। कोई भी क्रिया, पर्व, प्रसंग, व्रत, व्यवहार की शुरुआत (क्वचित मध्य) और अंत बहुत कुछ स्नान से ही होता। स्नान को भारतीय—हिंदू संस्कृति का पर्याय माना जा सकता है। यद्यपि अब हम शावर-बाथ, स्टीम बाथ, फ्रेंच बाथ और सोना बाथ तक आ पहुंचे हैं।

फिर हम उस आवा-जाही की पंक्ति से जुड़ गए—किनारे पहुंचे। तापी के मैले पानी का विशाल प्रवाह जैसे दृष्टि में समा नहीं पाता था। आकाश में उजाला फैल गया था, लेकिन आंखों को चुभे इतना उजाला नहीं था। 'उजास', 'उजाला', 'तेज', 'अंजवास', 'प्रकाश', 'द्युति', 'आलोक', 'आभा', 'किरण', 'भर्ग'—सब प्रथम दृष्टि में समानार्थी लगते शब्दों की अर्थ-छटा में सूक्ष्म भेद भी मानने जैसा है, नहीं? उजाले-अंधेरे के एक संधि क्षण ने मुझे एक साथ उकताया है और आह्लाद भी दिया है। यह अनुभव मेरा अकेले का नहीं, सबका है। चित्रगृह में प्रवेश करें, कुछ विलंब से पहुंचे हों, पहला या दूसरा शो हो, बाहर उजाला और अंदर अंधकार का भ्रम रचता अंधकार—किनारे से अचानक ही समुद्र में लुढ़क पड़ने पर दम घुटने जैसा अनुभव होता है वैसा ही अनुभव! सवाल दो-तीन मिनट का ही है, लेकिन कुर्सियों पर पहले से आकर आराम से बैठे हुए, या हमारे जैसे ही अनुभव में से पार उतर गए प्रेक्षकों के साथ भिड़ते-भिड़ते, सीट का नंबर ढूंढते हम जैसे-तैसे अपनी सीट तक पहुंचते हैं। बैठते हैं। दृष्टि को परदे पर स्थिर करते हैं। दो-चार मिनट ऐसे ही अंधकार में बीत जाते हैं और फिर सभी दृश्य खुलने लगते हैं। प्रेक्षकों की कतारें, स्त्री-पुरुषों के चेहरे हल्के-हल्के दिखने लगते हैं और तब थोड़े अफसोस के साथ लगता है—अरे अंधकार के ऐसे छिछले पानी में हम डूब जाने के भय से बचने की बेकार कोशिश कर रहे थे? और फिर तो चलचित्र के प्रवाह में तेज-तिमिर के संधि-क्षण का अनुभव भी हम भूल जाते हैं—फिर से फिल्म देखने जाएं और लेट हो तब तक!

आकाश में उजाला था, पर तेज उजाला न था इसलिए हिलता हुआ पानी अधिक अच्छा लगता था। यों भी तापी नर्मदा जैसी स्वच्छ नदी नहीं है। तापी के ऊपर का आकाश भी मुझे कई बार म्लान लगा है। पानी हिलता हुआ और आकाश म्लान— दोनों परस्पर पूरक। एक बार जब सूर्य-पुत्री जल-प्रलय से पागल-सी हो गई थी, तब पहली बार उसका मलिन जल देखा और फिर गहरी म्लानता से झुक-झुक पड़ते आकाश को निहारा। आकाश का वह विषादग्रस्त चेहरा आज तक भूला नहीं जा सका है—किसी मृत्यु के अवसादपूर्ण क्षण की तरह। आश्रित-सा हृदय के अंदर पड़ा-पड़ा कभी हल्की-सी कराह लेता है।

एक तरफ भिक्षुकों की कतार। दूसरी तरफ ब्राह्मण। स्त्रियां और पुरुष माथे पर तिलक लगवा रहे थे। हाथ जोड़ते थे, दक्षिणा देते थे। ब्राह्मणों के मुंह से कुछ स्पष्ट-अस्पष्ट मंत्र उच्चारित हो रहे थे। ये मंत्र बचपन से सुनता आया था और क्वचित क्षोभपूर्ण स्वर में उच्चारित भी किए थे, इसलिए मेरे लिए तो वह कुछ अंशों में स्पष्ट ही थे। टीका या चंदन के लेप लगवाने में मशगूल, भक्त लगते इन नर-नारियों की टोली में जितने जितने लोग थे, उतने तो हम श्रद्धालु नहीं ही थे—भारतीय स्त्री-पुरुष के माथे पर कंकु, चंदन, सिंदूर, भस्म, गोरोचन आदि के तिलक, अर्चा, त्रिपुंड, टीका आदि के आकार-प्रकार, रंग-महिमा आदि भी एक अलग विश्व है। भारतीय स्त्री या पुरुष—माथे

पर के इस चिह्न या उसके अभाव से भी, आप उस व्यक्ति के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थान परिवेश के विषय में क्षणार्ध में कितनी बड़ी कल्पना कर सकते हैं, जान सकते हैं। अब यह अनुकूलता मात्र स्त्रियों तक ही सीमित रही है और वे भी इन चिह्नों के साथ-साथ कम होती जाती है—इसलिए 'यहां फोटो लेने की मना है'—इस बोर्ड पर नजर डालते हुए हमने शरीर के ऊपरी हिस्से के कपड़े उतारे।

इसके साथ ही मन से जैसे केंचुली उतर गई। वर्षों बाद इस तरह आधे या उससे भी अधिक अंश में वस्त्रमुक्त हुआ जा सका था। हमारा वस्त्र-प्रेम तो शयनकक्ष में भी हमारा साथ पूरा-पूरा या दीर्घ समय के लिए कहां छोड़ता है? हाल में अपनी बिल्ली के साथ खेलने में मुझे कई बार विचार आया कि पशु-पक्षी निर्वस्त्र हैं और फिर भी उनमें कुछ अभद्र-अशिष्ट ख्याल हमारे मन में अभी तक नहीं आया, यह हमारा कितना बड़ा सद्भाग्य है! कल्पना करें कि बिल्ली, कुत्ता, मैना, कोयल या शेर मैचिंग और लेटेस्ट फैशन के वस्त्रों में सज्जित हों। उनका सब प्राकृतिक और निराडंबरी तथा निर्विकार रुद्र-रम्य सौंदर्य उसी क्षण कम हो जाएगा।

शरीर के साथ मन भी हल्का हो गया था—उगते सूर्य की किरणों को पाने के लिए तत्पर। सरिता के पानी में लंगोट पहने कमर तक पानी में खड़े रहकर सूर्य को अर्घ्य देते ऋषि और समुद्र किनारे बिकनी पहने सूर्यस्नान करती पाश्चात्य महिला—ये दोनों दृश्य समान रूप से रोमांचक होने चाहिए!...लेकिन मेरे शरीर पर जो पड़ रही थीं वे किरणें नहीं थीं, अतीत के स्मरणों की तीव्र घटनाएं थीं...वर्षों पूर्व बचपन में पिता की उंगली पकड़कर तापी तट तक जाने का अवसर आता। वह दिन प्रायः रविवार होता। पिताजी बाजार से थोड़ा दूध लेते मिट्टी के कुल्हड़ में। कुल्हड़ यानी कुल्हड़—न लोटी, न लोटा। आज भी मेरे एक सिविल इंजीनियर मित्र मेरे घर आते हैं, तब सुरक्षित रखी पीतल की गगरी से निकालकर ही पानी पीते हैं। मेरा एक दूसरा युवा कवि मित्र कभी प्लास्टिक या कांच के गिलास में पानी पीना पसंद नहीं करता। स्टेनलेस स्टील तथा शीशे-प्लास्टिक के आगमन ने पीतल, कांसा, तांबा, जस्ता आदि कितनी-कितनी धातुएं हमसे छीन ली हैं।

फिर हम तापी के किनारे जाते। परिचित ब्राह्मण के घाट पर बैठते। कुछ बातें शुरू होतीं। यजमान आते-जाते। बातों के साथ-साथ ही यंत्रवत मंत्रों का उच्चारण होता जाता। ब्राह्मण दाहिने हाथ का अंगूठा लकड़ी की प्याली में रखे चंदन में डुबोकर यजमान स्त्री-पुरुष-बालक सभी के कपाल पर लगाने को आगे बढ़ते। त्रिपुंड या वैष्णवी टीका करने के लिए पीतल के सांचे मन में कौतूहल पैदा करते। बिछे हुए आसन पर सिक्के पड़ते। गीले कपड़ों की विशिष्ट सुगंध आया करती। उन घाटों पर ही गमछे मिल जाते—मंगनी के। वह पहन लेते। गंदगी से चीकट हुई, जगह-जगह टूटी घाट की सीढ़ियों पर सावधानीपूर्वक पांव रखते हुए पानी तक पहुंचते। पानी ठंडा लगे बिना न रहता। कौन जाने कैसे सभी ऋतुओं में, नदी-समुद्र का पानी प्रायः ठंडा ही होता है।

शरीर कंपकंपी अनुभव करता। कुल्हड़ का चुल्लू भर दूध विशाल जलराशि में छोड़ दिया जाता। पानी की सतह पर सफेद रंग की एक लकीर जेट विमान के धुएं की रेखा जैसी बनती-न-बनती कि विलीन हो जाती—झाड़ी में सरकते सांप की तरह क्षीर और नीर एकाकार। किनारे से थोड़े चने खरीदे होते तो पानी में डालते। उसे खाने आती और गति के चंचल भंवर बनाती मछलियों को देखने में काफी रस आता। पानी का लहराता रंग, श्वेत दुग्ध-रेखा, चने का पीला रंग और मछलियों का व्यापक रंग वैविध्य—रंगों का एक कोलाज रच जाता।

तापी उन दिनों तापीमाता के नाम से जानी जाती थी। स्नेह और वंदनीयता का दुहरा स्वर उस एक शब्द में फूट पड़ता। जैसे 'नर्मदा मैया' वैसे ही 'तापीमाता'। इस नाम की वर्षगांठ भी आती। आज भी आती है। लेकिन इस यंत्र युग में उसकी महिमा घट गई है। नदी की वर्षगांठ हो सकती है, यह सत्य तब और आज भी हृदय विभोर कर देता है। कैसे तय होती होगी नदियों की वर्षगांठ? वह तिथि? जिसने यह किया होगा उसकी कल्पनाशीलता को प्रणाम।

तापी की वर्षगांठ तो आषाढ़ महीने में आती है। यों भी तापी अपने जलबाहुल्य के लिए प्रसिद्ध है। आषाढ़ में तो उसकी जलराशि सचमुच ही जवानी पर होती। ऐसी विपुल सलिला तापी की वर्षगांठ मनाई जाती है तो समुचित और सार्थक ही है। उस दिन तो चुल्लूभर दूध और स्नान का क्रम निरंतर चलता रहता। नदी के किनारे लोगों की खासी भीड़ होती। लेकिन फिर यह क्रम कम होता गया। इतने अधिक पानी में दूध का दुरुपयोग क्यों, इस बात पर कभी प्रतिवाद हो जाता। इस नदी के किनारे ही मेरा जन्म हुआ है, मैं बड़ा हुआ हूं। घर से पांच-सात सौ कदम दूर है यह तापी। घर यदि एक मंजिल और ऊंचा होता तो खिड़की से उसे देखा जा सकता था। रोज उसका ही पानी पीता हूं, फिर भी इस नदी का मेरे जीवन में—उसकी एक संतान के जीवन में कुछ महिमा तो ठीक, कुछ महत्व का स्थान रहा नहीं है, यह ख्याल कुछ समय से बार-बार तीव्रता से मन में आता है। नदी किनारे कुछ समय व्यतीत करने की वृत्ति भी नहीं रही है, उसमें स्नान किए वर्षों बीत गए हैं। याद है : दसवें (मृत्यु के दसवें दिन) दिन नदी के किनारे यज्ञोपवीत बदलने जाना इसलिए ही इच्छा लगता कि सरिता स्नान का मौका मिलता। यज्ञोपवीत अभी कंधे पर लटक रहा है, पुराने वस्त्रों की तरह। यह परंपरा अभी टिकी है, लेकिन शुभ्र यज्ञोपवीत जैसा नदी का जल-प्रवाह मुझसे विभक्त हो गया है—अथवा कहें कि मैंने बहाव बदल लिया है। इतना बड़ा और निरंतर प्रवाह मेरे निकट से हो रहा है, फिर भी उसके प्रति कोई मधुर समानता मेरे मन में बच नहीं सकी है, इस बात के डंक से पीड़ित हूं और फिर वह समानता अब कलम किए फूल के पौधों की तरह फिर से मन में उगाई नहीं जा सकती। मन के किनारों पर व्यवहार जगत सतत सूखी रेत बिछाता रहा है।

जब स्वास्थ्य बिगड़ता है तभी पुल पर घूमने जाना—ऐसा अलिखित नियम, किसी

गांठ की तरह मन में बंध गया है। स्वास्थ्य कभी-कभार बिगड़ जाए तो अच्छा, ऐसी इच्छा कभी मन में उत्पन्न होती है, जिससे नदी का सान्निध्य मिल सके। पुल पर कभी लापरवाही से जल्दी-जल्दी चलता रहता हूं, आधा पुल पारकर लेता हूं, तब कहीं एकाएक ख्याल आता है कि मेरे दाएं-बाएं तो इतनी बड़ी नदी बह रही है और मेरा ही उस तरफ ध्यान नहीं है। अपराध भाव का अनुभव अंदर से उछल आता है, फिर नदी की तरफ टकटकी लगाकर देखने लगता हूं। 'मार्निंग वाक' पूराकर पुल पर से वापस लौटते हुए नदी के पानी की तरफ बराबर पीछे फिरकर दृष्टि डाल लेता हूं—जैसे वह फिर कभी देखने को न मिलनेवाला हो। मैं पुल पर और नदी नीचे। हमारे बीच कितना अधिक अंतर है। तब जैसे नदी स्वयं एक किनारे में पलट गई हो और मैं दूसरे किनारे—अर्थात सामने के किनारे होऊं, ऐसा लगता है। बीच में रिक्तता। किसका बना होगा वह रिक्त पट? मेरे विच्छिन्न विस्मय का?...

ठंड के दिनों में, सुबह जल्दी अनेक यायावर पक्षी नदी के किनारे उड़ आते हैं। ये पक्षी अधिकतर सफेद रंग के होते हैं। धुंधले उजाले में अधिक म्लान लगते पानी की पार्श्व धरती पर वे श्वेत पक्षी विशेष सुंदर लगते हैं। मछली पकड़ने के लिए वे बार-बार जल की सतह पर भटकते हैं और मैं उन यायावर पक्षियों के जितना भी अपने नगर की नदी के निकट नहीं। 'नदी की रेत में खेलता, नगर मिले न मिले' के रचयिता 'आदिल' के जैसा तीव्र विरह भाव क्यों नहीं उमड़ता मेरे चित्त में? मैं विच्छेदित हूं—जीवनधारा से।

अब तो इस नदी ने मेरे मुहल्ले तक स्वयं चलकर आना भी छोड़ दिया है। पहले यह दो-चार वर्षों में ऐसा साहस करती थी। वह अभिसारिका बन जाती। लोग उसके उफान से भयभीत बन जाते। वह विनाशिनी भी बन जाती, फिर भी विरही यक्ष की तरह मैं उसका स्वागत करने के लिए उत्सुक रहता। वह कुछ कदम दूर रह जाती और फिर वापस लौट जाती। अब वह मर्यादाबद्ध गृहिणी क्या सयानी बन गई है? उसकी यह उपेक्षा मुझे चुभती है। मेरी उपेक्षा का वह इस तरह बदला लेती होगी।

और फिर कभी-कभी इस नदी का सान्निध्य अनुभव करता हूं—अपने विषादमय, व्यथापूर्ण क्षणों में। श्मशान अधिकतर नदी के किनारे ही क्यों होते होंगे? ऐसे क्षणों में नदी और मेरे बीच का अंतर बढ़ जाता है—अथवा शायद घट भी जाता होगा—हां, घटता ही रहता है।

उस सुबह नदी के पानी में डुबकियां लगाता मैं और उसमें से बाहर निकला मैं, एक नहीं थे।

(*'शब्दातीत'* से)

13

वसंत–मन की अवस्था

–हरींद्र दवे

कुछ परिचित स्वजनों के सिवा कई बार रास्ते में कोई मिलता है तो उनका चेहरा तो याद होता है, लेकिन उनका नाम जबान पर नहीं आता। फूलों के साथ भी ऐसा ही होता है। गुलाब या सूरजमुखी जैसे परिचित फूलों को छोड़कर भाग्य से ही किसी फूल का मैं नाम बता सकता हूं। भले ही इनका नाम लेकर परिचय नहीं करा पाऊं, पर मुझे वे फूल अच्छे लगते हैं। इसी तरह उन लोगों का नाम तो मैं नहीं बता सकता, फिर भी वे लोग मुझे अच्छे लगते हैं।

वृक्षों के साथ भी ऐसा ही है। धीरू बहन पटेल ने 'कणजी नां फूल' (करंज के फूल) शीर्षक एक लेख लिखकर करंज के वृक्ष का परिचय कराया था। मुझे भय है कि अब उस वृक्ष के निकट से गुजरना पड़े तो शायद वृक्ष मुझे पहचान जाएगा, लेकिन मैं उसे नहीं पहचान सकूंगा। कुछ लोग जब मित्रों की बात की तरह तरह वृक्षों की बात शुरू करते हैं, तब उन्हें मैं प्रसन्न हो ईर्ष्या से देखता रहता हूं।

पक्षियों का चहकना अच्छा लगता है। रंग अच्छा लगता है। कभी खिड़की पर बैठा कौआ व्यवस्थित रूप से 'कांव-कांव-कांव'–बोलकर रुक जाए और फिर अपने उसी स्वर का पुनरावर्तन कर कुछ बोले तो उसमें से कोई अर्थ ढूंढने का प्रयत्न किया है। कबूतरों, की गुटरगूं सुनी है, और कभी भोले समझे जाते कबूतर, कौओं को उड़ा भगाते हैं, यह दृश्य भी देखा है। लेकिन मुंबई शहर में नजरों में पड़नेवाले पक्षी ये दो ही हैं–कबूतर और कौआ। दूसरे कुछ के नाम कान में पड़ते हैं, लेकिन उन्हें देखने का समय ही नहीं होता। फिर पहचानने का समय तो कहां से मिलेगा?

कवि मकरंद दवे के साथ 'गोंडल' हाईवे के निकट सरोवर में कुछ पक्षियों को देखा था। तरह-तरह के नाम सुने थे। लेकिन एकाएक एक बार मिले लोग खूब अच्छे लग जाएं तो भी उनके नाम और चेहरों को एक साथ सही क्रम में रखा नहीं जा सकता और 'टी' की समस्या की तरह बिन तरतीब रह जाता है। इस समस्या में जो तरतीब से रखा

नहीं होता वही तो मन है : वह 'टी' तो व्यवस्थित रह ही सकता है।

न पक्षियों को पहचान सकता है, न वृक्षों को, न फूलों को—ऐसे आदमी से वसंत ऋतु पर लेख लिखवाने जैसी दूसरी सजा कुछ हो सकती है?

मैंने थोड़ी पद्य रचनाएं लिखी हैं, इसलिए शायद संपादक को इस विषय के लिए मैं योग्य लगा होऊंगा। मैंने वसंत पर कोई कविता लिखी है या नहीं, यह ढूंढने बैठा : हां, फागुन की उसमें बात आई है। लेकिन उसमें प्रकृति के असीम सौंदर्यलोक का गहरा परिचय तो मैं दे ही नहीं सका।

बचपन में गांव देखे हैं। लेकिन सौराष्ट्र के गांवों में पीने का पानी भी उस जमाने में दुर्लभ था। फिर कवि के द्वारा किए गए वसंत के वैभव का तो ख्याल कहां से आता? कालेज में पढ़ी संस्कृत कविता में जिस वसंत का परिचय मिला था, वह तो जैसे अपरिचित ही रहा है।

फिर भी वसंत पर लिखने के लिए मैं समुचित पात्र नहीं हूं, यह स्वीकार करना नहीं चाहता। वसंत के रोमांचक सहवास को घटा देता हूं, इतना ही कहता हूं। वसंत यानी फूल, वृक्ष और पक्षी—यह सच होगा, लेकिन इससे भी सवाया सत्य है, वसंत अर्थात मन की स्थिति।

उर्दू के कवि मीर की एक बात है। उनके एक मित्र ने एक अच्छा-सा घर उनके रहने के लिए ढूंढ निकाला। उसमें मीर जहां बैठकर कविता लिखते उस मंजिल की खिड़की के बाहर एक सुंदर उद्यान भी था। मित्र ने यह माना था कि कवि हमेशा खिड़की में बैठकर बगीचे के वैभव को देखकर प्रेरणा पाता होगा। इसीलिए एक दिन वह कवि से मिलने गया तब खिड़की बंद देखकर कुछ आश्चर्यचकित रह गया। फिर सहज संकोच के साथ पूछा, "इस खिड़की के पीछे सुंदर-सा मजे का बाग है। आपको यह अच्छा लगता है?"

"वहां बाग भी है?" मीर ने विस्मय से पूछा, और फिर अपने लिखे कागजों तथा पुस्तकों की तरफ देखकर कहा, "वह तो मैंने कभी देखा ही नहीं है। अपने इस बाग की चिंता से खाली होऊं तब दूसरा कोई बाग याद आएगा न।"

वसंत यानी मन की स्थिति। इस बात का थोड़ा ख्याल इस प्रसंग से मिल सकता है। नहीं तो थोड़े कागज और उस पर लिखे कुछ अक्षर : उसमें वसंत देखना कैसे संभव होगा? वसंत छह ऋतुओं में से एक तो है ही, हमारे कवियों ने जिसके गीत गाए हैं, वह वास्तव में वसंत ऋतु ही है? या फिर उनके चित्त की ही कोई अवस्था है?

वसंत कोई कवि की संपूर्ण संपत्ति नहीं। शायद वसंत पर सबसे अंतिम हक कवि को जाता है। हवा में, धरती के मूल में, वृक्षों पर फूटती कोंपलों में, पक्षियों के रंगों में और चहकने में, फूलों की पंखुड़ियों में और सौरभ में पुष्पों और पत्तों में, घोंसला बनाकर रहती जीव सृष्टि में, कभी ऐसी कोई हरियाली दृश्यमान न हो ऐसी निर्जनता में, रेत में,

सूर्य की धूप में या रात्रि के अंधकार में, वसंत का सबसे पहले आविष्कार होता रहता है। फिर उसका प्रथम अनुभव होता है उन लोगों को जिन्हें यह अच्छा लगता है, लेकिन किसलिए अच्छा लगता हैं, इसका पता नहीं होता। कुछ बदला है, यह ख्याल आता है, फिर भी क्या बदला है—इसका पता नहीं होता। एक वृक्ष को रोज देखते रहें तब एकाएक उसके जीर्ण परिवेश का रूपांतर सघन हरे पर्णों और पुष्पों में हो जाए, तब रोज मिलते स्वजन के दुबले होने का या मोटे होने का पता नहीं चलता। यही होता है। इसी तरह वसंत का सबसे पहले अनुभव मनुष्य के रूप में होता है। ऐसे मनुष्य में कोई कवि हो सकता है, कोई चित्रकार हो सकता है, कोई मुनीम हो सकता है, कोई किसान हो सकता है, कोई व्यापारी हो सकता है। वे वसंत का अनुभव करते हैं, उससे अनजान भी हो सकते हैं। फिर भी वसंत का उनके जीवन में कहीं कुछ स्थान होता है।

यों तो शहर में भी ऋतुओं का पता चलता है। कभी बरसात में गीली मिट्टी की सुगंध आती है, कभी गरमी की धूप परिचय कराती है, लेकिन जहां वृक्ष भाग्य से ही दिखाई पड़ते हों और पक्षी हों, फिर भी देखने का अवकाश न हो ऐसे वातावरण में पतझर या वसंत का क्वचित ही परिचय होता है।

फिर भी वसंत का अनुभव सब कोई करते हैं। प्रकृति में वसंत नहीं है, ऐसा तो कैसे माना जा सकता है? वसंत ईश्वर के समान ही है। वह स्वयं कभी अपनी उपस्थिति का अहसास कराने स्थूल देह से नहीं दिखता, लेकिन तन्मयता से आप प्रतीति मांगें तो मिले बिना भी नहीं रहता। आप जरा सजग रहकर अनुभव करें तो स्पर्श करती हवा में वसंत दिख जाता है। लेकिन हवा में या फूलों में जिसकी प्रतीति होती है वह एक वसंत है, एक दूसरा वसंत है—जो ज्ञानयोगी के ईश्वर की तरह दुराराध्य है। यह तब होता है, जब उससे आप अनजान हों, लेकिन कुछ ऐसी समानता-सजगता आई कि वह भाप की तरह उड़ गया। उसका संबंध, सुख या दुख के साथ नहीं, मन की किसी अवस्था के साथ है। देखने में जिसे दुख कहा जा सकता है, ऐसी किसी अवस्था में भी चित्त में किसी प्रसन्नता की लहर बहती होती है। देखने में सुख कहा जा सकता है ऐसी स्थिति में चित्त में कोई विषाद फैल रहा होता है। इस मन की अवस्था की तुलना आप वसंत और पतझर के साथ कर सकते हैं। अंग्रेजी के कवि कीट्स ने कहा था : "वृक्ष में से जैसे पत्ते निकलते हैं, ऐसे ही मेरे अंतर से कविता निकलनी चाहिए।" वह कवि था, इसलिए उसने यह इच्छा व्यक्त की। लेकिन वृक्ष में जैसे पत्ते फूटते हैं वैसे ही अपने में प्रसन्नता फूटे, ऐसा सब चाहते हैं। यह चाह ही वसंत का संकेत है और अपनी यह खिली हुई प्रसन्नता झर पड़े तो ऐसे ही उत्कट को पतझर कहा जा सकता है।

एक बहुत कम प्रचलित कथा है—वशिष्ठ मुनि के आश्रम में किसी शिष्य ने खिले हुए फूल को डाल से नीचे गिरा पड़ा देखा। उसने मुनि से पूछा, "इस फूल को वसंत का स्पर्श हुआ है?"

वशिष्ठ जी ने कहा, "मुझे कुछ नहीं कहना है।"

शिष्य को संतोष नहीं हुआ। उसने पूछा, "इस फूल को पतझर का स्पर्श हुआ है?"

फिर एक बार वशिष्ठ मुनि ने सिर हिलाकर कहा, "मुझे कुछ भी नहीं कहना है।"

शिष्य सोच-विचार में पड़ गया। अंत में वशिष्ठ जी ने कहा, "तुम्हें यह फूल देखकर वसंत का विचार आया और पतझर का भी। इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हारे मन में इनमें से एक भी मौसम इस समय नहीं है। मुझे यह फूल खिला हुआ दिखा। जैसे हमारे पास, हमारी बातचीत का निमित्त बनने के लिए वह डाल पर से कूदकर नीचे गिर पड़ा हो। मेरे लिए यह वसंत है। यदि किसी को वह फूल न दिखे, उसके आसपास की धूल ही दिखे तो फूल के गिर जाने पर उसे दया आती है, उसके लिए यह पतझर है। एक साथ इस समय वसंत है, पतझर है या दोनों का अभाव है!"

शिष्य कितना समझा होगा, यह तो भगवान जाने, लेकिन यह प्रसंग वसंत के विषय का पूरा अभिगम बदल सकता है। कालिदास की प्रसिद्ध पंक्ति है : "सर्व प्रिये चारुतरं वसंते'—वसंत में सब कुछ सुंदर होता रहता है। यही बात दूसरे शब्दों में कहें तो यह कहा जाएगा कि जब सब कुछ ही सुंदर लगता है—मधुर लगता है तभी कहा जाता है कि वसंत आया।

फिर भी वसंत का एक पारंपरिक रूप है, और वह रूप हम कभी भूल नहीं सकते। शहर में बैठा आदमी कभी आम्रमंजरी की कविता पढ़े या फागुन की बात सुने, तब उसे कुछ समय के लिए अपने वातावरण से बाहर निकल आने का मन हो जाता है। मुंबई शहर में तो राजा दशरथ ने कभी वन में आया वसंत देखा हो इसकी कल्पना कहां से आ सकती है। लेकिन कालिदास के 'रघुवंश' के नवें सर्ग के आगे रुकने का मन होता है :

'श्रुति सुखभ्रमरस्वन गीतयः
कुसुम कोमल दन्तस्याबभुः
उपवनान्त लतः पवनाहतैः
किसलयैः सलमैरिव पाणिभिः॥

उपवन लता पर बैठे भ्रमरों का गुंजन ऐसा लगता है जैसे लताओं द्वारा गाया गीत हो। खिले कोमल फूलों में जैसे लता के दांतों की चमक दिखती है, हवा के स्पर्श से डोलती डालियां ऐसी लगती हैं जैसे लयमग्न अभिनय करते हाथ हों।

यह वसंत का वर्णन है। फिर भी कवि के मन की स्थिति का वर्णन नहीं है? यों देखें तो उपवन में एक डाल है, उस पर भ्रमर हैं, और फूल हैं, हवा से वह डाली हिल रही है। यह बात यदि कोई ठीक मूड में न हो तो कैसे लगेगी?

कवि कालिदास ने उस उपवन लता में जिस नर्तकी को देखा, उसे हम कुछ दूसरी कल्पनाकर उदास न कर दें। लेकिन वह नर्तकी प्रफुल्लित है—सुंदर है: कारण कि कवि को वह इस रूप में दिखी है।

जादू के खेल में रहस्य बता देने से मजा उड़ जाता है। लेकिन वसंत की बात जरा अलग है। वसंत की बात करें, उसके रहस्य को आप समझ लें तो आपको उसका और मजा आएगा, कारण कि वसंत मन का अभिगम है: तभी तो तीव्रतम दुख के क्षण में कवि को वसंत दिखा था। कवि गालिब ने कहा था—

उग रहा है दरोदीवार पै
सब्जा 'गालिब'
हम बयाबां में हैं
घर में बहार आई है।

काव्य नायक दुखी है, मैदान में निर्जनता में भटक रहा है और एकाएक अपने निर्जन घर के निकट से गुजरता है। घर की दीवारों में से घास उगी हुई वह देखता है और कहता है : दीवार-दरवाजे पर हरी घास उग आई है, हम मैदान में हैं और घर में वसंत आ गया है।

वसंत, मन की स्थिति है—यह तो कह दिया, लेकिन फिर लगा : यह लिखा गया है वह क्या है? वसंत या पतझर या फिर दोनों का अभाव?

(*'नीरव संवाद'* से)

14

वृक्ष की मातृभाषा मौन

—गुणवंत शाह

घर के सामने एक घना वृक्ष खड़ा है। बहुत लोगों से पता किया, पर कोई अभी उसका नाम रखकर उसके कुल की सही जानकारी नहीं दे सका है। मैंने उसका नाम रख दिया है 'सत्यकाम'? बिना नाम का, बिना लेबल का कुछ भी हो, वह हर तरह से पर्याप्त हो तो भी, उसमें कुछ कमी रहने का भाव रह जाता है। वास्तव में तो ऐसे भाव के लिए हमारी अपर्याप्तता ही उत्तरदायी मानी जाएगी। इस वृक्ष की एक खूबी है। तीनों ऋतुओं में उसके पत्तों की चमक ऐसी, जैसे बरसात में स्नानकर अधिक हरी न बन रही हों। आसपास खड़े वृक्षों की हरियाली से यह हरियाली भिन्न दिखाई देती है। शहर की इमारती फौज के बीच मात्र टिक रही वृक्षों की यह बस्ती कब तक टिकी रहेगी, इसकी चिंता मैं अधिक नहीं करता, कारण कि मैं कब तक टिका रहूंगा, इसका पता नहीं है।

इस वृक्ष के प्रति पक्षियों को भी थोड़ा पक्षपात रहता है, ऐसा लगता है। एक दिन एक अपरिचित पक्षी आकर उस पर बैठ गया। रंग में सुंदर और रूप में पूरा—ऐसा वह पक्षी कब तक बैठा रहा! मूल रूप में आदमी, यानी मैं अपनी जाति पर गया। घर में, अलमारी में पड़ी दूरबीन द्वारा उस पक्षी और अपनी आंख के बीच का अंतर घटाने का लोभ मुझे हुआ। दूरबीन मिली तब तक तो वह पक्षी उड़ गया। फिर वह कभी नहीं आया।

हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के जीवन का सार मुझे जो मिला वह यह है :

एक नदी,
दो किनारे बहती जाती छलाछल!
एक दिन
उस पर पुल बना।
अकाल पड़ा और नदी सूख गई।
लेकिन
पुल तो खड़ा था, नदी की शोक-सभा जैसा।

ऐसे तो कितने ही पुल देखने को मिलते हैं, जिनके नीचे नदी जैसा कुछ नहीं होता। ऐसे किसी पुल की तरह कभी विश्वविद्यालय, न्यायालय, ग्रंथालय, आश्रम या संसद-भवन खड़े होते हैं, उजड़े पड़े खेत में खड़े पुतले की तरह।

रेल से यात्रा करते समय कभी स्टेशन से कुछ दूर मूल लाइन से विभक्त हुई दूसरी दो पटरियां दिखाई पड़ती हैं। कटकर अलग हो गई कत्थई रंग की इन पटरियों पर डिब्बों का आना-जाना नहीं होता। ये पटरियां उन डिब्बों को कहीं पहुंचाने के लिए नहीं होतीं। वह तो पड़ी हैं, बस यों ही कटने के लिए। पड़े-पड़े कटते रहना ही उनका जीवन कार्य है। चौबीस घंटा, सात दिन और बारहों महीने उनका जीवन कार्य चलता ही रहता है। किसी पुतले को थककर आलस तोड़ते हुए आपने देखा है? एक विचारक ने कहा है, जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक महत्व की मानी जाती है। 'मरते' हैं सब, लेकिन 'जीते' हैं बहुत कम।

महामुनि थोरो ने कहीं 'इरादेपूर्वक' जीने की बात कही है। जीवन के ध्येय के बारे में काफी लोग चिंतन-मंथन करते रहते हैं। ऐसा चिंतन-मंथन छोड़कर यदि वे 'जीने' लग जाएं तो शायद समझ आ जाए कि 'जीना' ही हमारा जीवन ध्येय है। थोरो, हीरेकिलेटस और खलिल जिब्रान जैसे महामानव इसी रूप में जी गए। वे 'मर गए', ऐसा कहना ठीक नहीं लगता। क्योंकि, वे इरादेपूर्वक 'जीवित' रहे। रोज-रोज मरने वालों के आगे रोज-रोज जीने वाले कितने अधिक अल्प मत में हैं, यह हम देख सकते हैं। बहुमत के पक्ष में होने से मिली शांति से चिपके रहकर हम जीवन बिताते रहते हैं। सुख-शांति की ऐसी प्रेरणा हमें उस निर्जीव पुतले से मिली है। कभी ऐसा होता है कि उस पुतले के कंधे पर आकर एक पक्षी बैठता है। लेकिन पुतला तो ऐसा जड़ है कि पक्षी के चेतन का चेप उसे लगता नहीं। लगभग इस पुतले की माफिक हम समय व्यतीत करते रहते हैं। और व्यतीत करने के सिवा और कुछ कर भी नहीं सकते, यह समय की लाचारी है। ऐसी लाचारी अनादि और फिर अनंत है।

यह वृक्ष जब तक सामने खड़ा है, तब तक किसी सत्संग या संत समागम की मुझे खास जरूरत नहीं है। उसकी मातृभाषा मुझे थोड़ी-थोड़ी समझ आती है। वृक्ष की मातृभाषा यानी मौन। मैं मौन धारण कर लूं, फिर वृक्ष के मौन का थोड़ा रहस्य मुझे समझ आता है। उस मौन के प्रकाश में वृक्ष से लिपटकर चतुर्दिक पड़े आकाश का खुलापन मेरे मन में धीरे-धीरे उतरने लगता है।

सुबह होने को आई है। अंधेरे को धक्का मारे बिना उजाला पृथ्वी को अपने आंचल में समेट लेता है। पक्षी जगाने की तैयारी में हैं। सूर्योदय होना ही चाहता है। हवा भी अभी पूरे होश में नहीं आई है। मैं जाग गया हूं, लेकिन सुषुप्ति के समय में प्राप्त हुआ विस्मय अभी मैंने खो नहीं दिया है। बैठा-बैठा वृक्ष क्या कहता है, यह समझने का प्रयत्न कर रहा हूं और सोच रहा हूं, इसलिए ही शायद समझने में असफल हो रहा हूं। वृक्ष मुझे

कुछ कहने के लिए जरा भी आतुर नहीं लगता। मेरे चिंतन का कोई भी प्रतिभाव नहीं मिलता, इसलिए मानवता छोड़कर मैं केवल बैठा रहा हूं। अंतिम क्षण भी बीत गया तब उस वृक्ष की तरफ से उसकी मातृभाषा में एक संदेश मिला—'Just be what, you are— तुम जो 'हो'। वही 'रहो'।

सुबह हुई तो पक्षी इस तरह चहक उठे जैसे पहली बार सुबह न हुई हो। हर सुबह को पहली गिनना और हर संध्या को अंतिम गिनने का ध्यान रहे, तो आदमी की दिनचर्या का रंग ही बदल जाए। निरर्थक बातों में दिन व्यर्थ बिगाड़ने की आदत छोड़ना सरल नहीं होता। रुपया व्यर्थ खर्च हो जाए तो खटकता है, लेकिन दिन-पर-दिन, महीनों-पर-महीने और वर्ष यों ही बीत जाएं उसका ख्याल भी नहीं आता। सुबह हुई कि आसपास के वृक्षों पर से मंगल-ध्वनि आने लगी। हर चोंच के बीच से निकल आती ध्वनियों में राम धुन की लय है, अजान देने वाले के कंठ से निकली आरजू है और देवताओं की प्रार्थना में गांभीर्य है। पूरा मुहल्ला शांत है, हवा में ठंडक है और आकाश की स्वस्थता एक समान है, इसलिए पक्षियों का वृंदगान हृदय को भावना से भर देता है।

सामने के 'सत्यकाम' वृक्ष के साथ पिछले एकाध वर्ष से दोस्ती हो गई है। उस वृक्ष को पतझर ने लूट लिया है। उसका घना वैभव, उसकी पर्ण संपत्ति और उसकी हरी मिल्कियत लगभग समाप्त हो गई है। वृक्ष की दूसरी तरफ रहने वाले पड़ोसियों के अपरिचित चेहरों को अब डालों के बीच एकदम खुलापन हो जाने से स्पष्ट देखा जा सकता है। वृक्ष के पीछे कुछ दूर पगडंडी पर आना-जाना अब दिख सकता है। पहले तो रास्ता ही नहीं दिखाई पड़ता था। मात्र कुछ पत्ते बचे हैं, लेकिन वह भी गिर जाने की तैयारी में हैं। अपनी लाज ढंकने के लिए कोशिश कर रही फटेहाल स्त्री की तरह खड़े इस वृक्ष की निर्जीव डालियों पर मकर संक्रांति के दिनों में कटी पतंग लटक रही है। उस वृक्ष का भव्य भूतकाल मैंने अपनी आंखों से देखा है, इसलिए मन ऐसे निर्दय परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर सकता। मात्र एक पखवाड़े जितने समय में ही एक हरा, घना और पत्तियों से भरा वृक्ष इस तरह एकदम हार जाए, यह कैसे हो सकता है? अब पक्षी भी कटे हुए नाखून जैसी उन डालियों पर अधिक बैठते नहीं। वसंती हवा भी उसकी डालियों को पहले की तरह हिलाती नहीं। बुरे दिनों में वृक्ष के स्वजनों ने जैसे मुंह फेर लिया है।

कभी परिवार में भी पतझर के कदमों की तरह सबकुछ इसी तरह बदल जाता है। प्यार की जगह निःश्वास और आवभगत या सत्कार की जगह अहंकार या घमंड ले लेता है। आदमी को क्षणभर के लिए लगता है कि दिन-दहाड़े लुट गया हूं। सारे संबंध टूटने लगते हैं और बधाई के शोर की जगह तगादों की भनक सुनाई देने लगती है। सबकुछ उजड़ा हुआ-सा लगने लगता है और भयानकता भारी लगने लगती है। सारा आकाश वीरान बन जाता है और बिना जल की नदी का रेतीला तल देखकर मन टूट जाता है। किनारा कहां खत्म होगा, यह नहीं समझ आता और यहां कभी नदी बहती थी—यह बात

मानना कठिन हो जाता। सुनसान बगीचे को किसी ने मूठ मारी हो और तपती दोपहर की जलन रोम-रोम को जला रही हो, ऐसा लगता रहता था।

ऐसे समय में दूर से एक वासंती स्वर सुनाई देता है और आदमी के अरमान थिरक उठते हैं, उसकी इच्छाएं झनझना उठती हैं और उसकी प्रतीक्षा में नए-नए रंगों का पवन लहराने लगता है। जीवन जैसे आलस्य छोड़कर बैठ जाता-सा लगता है। दुःस्वप्न का आसरा मिटने लगता है और स्वर नया शृंगार सजाकर, मधुर ध्वनि की उंगली पकड़कर बगीचे में घूमने निकल पड़ता है। स्वजनों के और प्रियजनों के आने-जाने में नई गनगनाहट शुरू हो जाती है और ढल गई आंखों में नई मस्ती लहराने लगती है। मौसम बदल जाता है और आदमी का मन उसके स्वागत की तैयारी करते समय भी पतझड़ के दिनों की याद में भटकता रहता है।

सामने खड़े वृक्ष की निष्पर्णता को देखता हूं तब शाखा-प्रशाखाओं पर फूटी हज़ारों कोंपल मेरी दृष्टि में पड़ती हैं। आने वाले दस-पंद्रह दिनों में ही वृक्ष को हरा वैभव प्राप्त हो जाएगा। फिर से उस वृक्ष की दूसरी तरफ रहते पड़ोसियों के चेहरे अदृश्य हो जाएंगे और रास्ते का आना-जाना दिखना बंद हो जाएगा। फिर से उस वृक्ष की छटा कलरव से छलक उठेगी। फिर से हवा की गुदगुदी शुरू हो जाएगी और पूरा वृक्ष नाच उठेगा, पूरे वृक्ष की शक्ल-सूरत बदल जाएगी और आकाश की शान-शौकत बदल जाएगी। जो सूख गए थे वे वृक्ष फूटने लगेंगे। फिर तो वासंती मधुर ध्वनि के लिए शायद आकाश छोटा लगेगा। ऐसे समय मेरे लिए सरल बने रहना संभव होगा क्या? क्या मैं पतझर द्वारा सिखाया पाठ एकदम भूल जाऊंगा? पतझर और वसंत के आने-जाने में उलझते समय एक बात मन में तय कर लेने का मन होता है—तमाम वैभव के बीच भी मनुष्य को वैराग्य का एक टापू बनाने के लिए मेहनत करना शेष रहता है। वैराग्य भाव के बिना वैभव में ज्यादा लाभ नहीं होता। एकांत का मंदिर हो, मंदिर के भीतर मौन हो, वहां सदा आनंद की ध्वजा फहराती रहती है। सामने का वृक्ष बिना कुछ बोले मुझे अपनी मातृभाषा में एक बात धीरे से कह देता है—वैराग्य और वैभव सदा आसपास ही रहते हैं।

(*'बत्रीस कोठे दीवा'* से)

15

मुंबई यानी मुंबई यानी मुंबई

—सुरेश दलाल

हम मुंबई को किस कोने से देखेंगे? हकीकत में पूरे मुंबई को देख सकें, ऐसा यहां कोई एक कोना नहीं है। मुंबई तो खुला बाजार है। कोई शहर इतना जल्दी जागता नहीं होगा और इतनी देर से सोता नहीं होगा। मुंबई हमें इस बात की प्रतीति कराता है कि नगर जीवन में जीवन का नहीं, बल्कि नगर का महत्व होता है।

ट्राम की पटरियां तो कब की उखड़ गई हैं। वीर बहूटी की गति से चलती विक्टोरिया है और चलने का मजा बढ़ाने के उद्देश्य से शायद हाथ-गाड़ियां पांव से जब-तब टकरा जाती हैं। विक्टोरिया और हाथ-गाड़ी की जगह गिलहरी जैसी अहमदाबादी लोहे की रिक्शा चला देने जैसी है। दो मंजिल के मकान जैसी नंबरवाली बसें और ड्राइवर का मिजाज और मीटर पर चलती टैक्सियों से सारा नगर गूंजता है।

एयरपोर्ट पर कामधेनु के कीड़े पड़े हों, इस तरह कितनी ही कार खड़ी होती हैं। आदमी की चाल भी एयरपोर्ट पर बदल जाती है। विदेश जाने वालों की संख्या इतनी अधिक बढ़ गई है कि अब स्वदेश में रहने वालों के फोटो अखबारों में छापने का समय आ जाए तो आश्चर्य नहीं। पार्किंग प्लेस में आलसियों की अदा से खड़ी गाड़ियों को देखें तो भी मुंबई के वैभव का ख्याल आ जाएगा। जैसे करुणा को उभारने के लिए हास्य की जरूरत होती है, वैसे ही मुंबई के वैभव को उभारने के लिए वहां की झोंपड़पट्टी तथा चालों की। मुंबई के मुहल्लों के कितने रास्ते रेनकोट पहने लड़कियों जैसे ही लगेंगे। मुहल्ले की गाड़ी में आदमी लटककर टिका रहता है। ताश के खेल और भजनमंडली से भी लोकल पहचान आ जाती है। खड़े रहने की जगह न हो, फिर भी आदमी हाथ लंबाकर अखबार पढ़ने का आदी हो गया है। सिनेमा के गीत केवल कालेजवालों का ही ठेका नहीं बल्कि मुंबई के भिखारी भी इस तरह गाते हैं, जैसे यह उनकी पैतृक संपत्ति हो। चाकलेट-टाफी वाले भी खास लय में गाकर टाफी बेचते हैं। अखबारवालों, गुब्बारेवालों तथा बेशुमार भीड़ और शोर से मुंबई घिरा रहता है।

यहां लोगों की ऐसी मान्यता है कि उन्हें शोरगुल में ही आनंद आता है। शरद पूर्णिमा को स्वयं चांद को भी आकाश से चले जाने का मन इस हद तक हो जाता है जैसे ट्रकों पर भरे पीपे टकराते-बजते रहते हैं।

अर्जुन को कुरुक्षेत्र देखते ही जैसा भय हुआ था वैसा ही भय हर किसी को पहली बार मुंबई देखने पर होता है। लेकिन जैसे-जैसे मुंबई के विश्वरूप का दर्शन होता जाता है, वैसे-वैसे भय में विस्मय और अहोभाव घटता जाता है। यूरोप के कवि एरिक केसनर ने 'नगर संस्कृति' के लिए जो कहा है वह मुंबई के लिए हू-ब-हू लागू होता है—'व्यापारी सौदा करते हैं, पैसा जैसे उस पर जबरी लादा गया हो, इस तरह दौड़ता रहता है। कारखाने खड़े होते हैं और टूटते भी हैं। दुनिया घूमती रहती है। हम भी साथ-साथ घूमते रहते हैं, इसलिए यह फेरफार देख नहीं सकते। दूसरों के पैसे से बैंक बुक खोलते हैं और बैलेंस शीट खामोश रहती है।'

मुंबई के हर मुहल्ले का हर समय का अलग व्यक्तित्व होता है। सोमवार से शनिवार तक फाउंटेन का व्यक्तित्व देखिए—एक क्षण यही लगेगा कि सभी बस्ती जुटकर यहां ही पड़ी है। इतने अधिक आदमी और इतने अधिक वाहन, रात होते ही कहां गायब हो जाते होंगे? रविवार को तो फाउंटेन की गलियां किसी त्यक्ता जैसी लगती हैं।

आपकी संकल्प शक्ति कितनी है, इसका ख्याल पाना हो तो क्राफर्ड मार्केट के निकट से गुजरें। खरीददारी न करने के संकल्प को तोड़ने की शक्ति वहां के वातावरण में है। कालबादेवी पर तो पुस्तकें, चश्मे की दुकानें, पान की दुकान की चुगली खाते शीशे, छोटे-बड़े होटल—इन सबका 'काकटेल' है।

वाश बेसिन के पास लटकते टूथब्रशों ने दातून को लगभग देश निकाला दे दिया है। फिर भी दातून की महिमा एकदम खत्म नहीं हो गई है—इसका ख्याल विशेष रूप से भूलेश्वर में आता है। राइट-एंगल पर धोती का छोर ऊंचा करके दौड़ते 'सज्जनों' को आप भूलेश्वर में देख सकेंगे। भूलेश्वर में भगवान और मनुष्य दोनों की ठसाठस भीड़ होती है। जो अच्छी ड्राइविंग करने का मन में अभिमान और शेखी रखते हों, ऐसे सारथियों को भूलेश्वर में छोड़ देना चाहिए।

मुंबई का भूगोल ऐसा है कि उसमें जैसे 'भू' ही नहीं और 'गोल' (गुजराती में गुड़ को गोल कहते हैं।) की मिठास भी नहीं है। फिर भी मुंबई छोड़ना किसी को अच्छा नहीं लगता। हर व्यक्ति अंत में यह स्वीकार करेगा कि मैं मुंबई को खूब चाहता हूं। यह विरोध और विरोधाभास, यानी मुंबई और मुंबई के लोग। दुर्घटना न हुई हो, ऐसी एक दुर्घटना अभी तक शायद कभी नहीं हुई होगी।

मुंबई के लोगों की तरह मुंबई की बरसात का भी ठिकाना नहीं। अचानक बंधते और तेजी से विकसित होते और अचानक टूट जाते संबंधों की तरह मुंबई की बरसात संबंध बनाती भी है और फिर छाता लेकर निकलने पर वह एकदम गायब हो जाती है।

हाथ में मरे हुए चूहे जैसे 'पोर्टफोलियो' के साथ दौड़ते लोगों का दृश्य देखने लायक है। यह दृश्य कभी अदृश्य होने वाला नहीं है। इसलिए जब फुर्सत मिले तब देख सकेंगे।

लेकिन यहां किसी को फुरसत नहीं मिलती। मुंबई में लोगों के पास 'टाइम नहीं है' यह कहने का भी टाइम नहीं। और फिर भी क्या काम है, इसका स्पष्ट खुलासा भी बहुत कम लोगों के पास होगा।

'चलो' और 'बढ़ो' बोलते मनुष्यों के बच्चे 'जेक एंड जिल, वैंट अप द हिल' का गीत गाते हैं और परिचित-अपरिचित आते तब गाने के लिए तैयार न होते तो भी जबरदस्ती यह कविता उन बच्चों से अभिनय के साथ गवाई जाती है। घर-घर गैस आने के कारण मध्यम वर्ग के लोगों के बच्चों को 'चूल्हा क्या होता है', इसका ख्याल दिलाना भी मुश्किल है। फोन, डायरेक्ट डायलिंग, ट्रांजिस्टर, टेपरिकार्डर, टी.वी. और नई माडल की गाड़ी की बात करने के समय, बात करने वाले के चेहरे का एक अलग ही 'मेकअप' मिलता है। टाइट पैंट, लूज जाकिट, मिनी स्कर्ट तथा लुंगी का यह शहर है।

यहां शाम को धार्मिक प्रवचन भी चलते हैं। और शाम ढलने के बाद नाइट क्लबें! नाइट क्लब में जाने वाला आदमी प्रवचन में भी मिलता है और स्वयं धार्मिक प्रवचनकार भी नाइट क्लब में मिल जाए तो उसे जीवन की स्वाभाविकता के रूप में स्वीकार कर लेने की हमारी तैयारी होनी चाहिए। जाति मिटती जाती है और तरह-तरह के क्लब की बिना रिश्ते की नई जाति बनती है।

मुंबई सब कुछ खाता है। 'आदमी और पैसा' उसकी मुख्य खुराक है। बाकी भेलपुरी, इडली-डोसा, वेज और नानवेज तक उसका 'मेनू' फैला है। ड्रिंक्स की पार्टियों में सुरापान की अपेक्षा देवों की तरह आनंद लूटा जाता है। भरी बोतलों के पास खाली गिलास जैसा आदमी और पूरा देश होता है। मंदिर, मस्जिद, चर्च, जैन मंदिर. उपाश्रय (जैन साधुओं का निवास) और पारसी मंदिरों का स्थान हास्टेल्स, बैंक, कालेज और थियेटर लेते जाते हैं। हास्टेल्स के ग्रेड तय हुए हैं, लेकिन आदमी का ग्रेड तय नहीं किया जा सकता। स्कोर पूछना यहां का व्यवहार और त्यौहार है। ब्लडप्रेशर और डायबिटीज बातों के मुख्य विषय हैं। एंटिक्स को इकट्ठा करना, आर्ट गैलरी में नियमित जाना, हाथ में गाड़ी की चाभी घुमाते 'उस्तादी-संगीत' में हाजरी देना—यह सुसंस्कृत दिखने के लिए अनिवार्य है। शास्त्रीय संगीत को बिना समझे सुनने वाला एक व्यक्ति सुबह के समय हृदय-विभोर हो शरीर डुला रहा था। उसे ऐसा लग रहा था जैसे रेडियो पर किसी उस्ताद के गले से स्वर निकल रहा होगा। बाद में पता चला कि पड़ोसी कुल्ले कर रहा था।

रातोंरात पैसेवाला बना आदमी, जिस मुहल्ले में बहुत संपन्न लोग रहते हैं, वहां रहने चला जाता है। देशी हारमोनियम पर विलायती संगीत यहां बजता रहता है। बच्चों के गंदे कपड़े, 'इंटरनेशनल फ्लैग्स' की तरह, मुहल्ले के बाहर सूखते रहते हैं।

'रेसकोर्स' और 'रानीबाग' दोनों तुलाराशि के हैं, फिर भी, रानीबाग के लोग भी शरीर को स्वस्थ नहीं रख सके हैं। रेसकोर्स पर तो आदमियों के पास संतुलन के सिवा सब कुछ होता है। जुलूस और सरकस के साथ मुंबई का खून का संबंध है और हड़ताल मुंबई की ताल है।

मुंबई का ट्रैफिक, वहां के सिग्नल और पुलिस—यह सब देखकर 'इलियट' की पंक्ति याद आती है :

"A thousand policeman directing the traffic
cannot tell you why you come or where you go."

मुंबई को किस कोने से देखेंगे? मुझे लगता है कि मराठी भाषा के कवि सदानंद रेगे की कविता के कोने से मुंबई देखने जैसा है—

यहां गुलमोहर सही समय पर खिलता है
बगल में ही बहती होती है ठंडे पानी की गटर।
यहां केशिया पर कांपती हल्दी
छांह में होते केवल भेलपुरी वाले।
यहां आम फलता है नववधू जैसा
विवाह में आते अंधे भिखारियों की टोली
यहां पीपल थेई-थेई नाचता होता है।
पांव में उसके होते हैं सड़े अंडे।
यहां की सुबह होती है 9.55 की राह देखते
यहां की दोपहर डिब्बे का जूठा खाती है।
यहां होती है संध्या, लेकिन नहीं होती
सांध्यदीप की बेला।
यहां होता है रात्रि में फोरस रोड पर बारात का संगीत
यहां सूर्य भागता है...यहां चांद शर्मिंदा...
यहां के नक्षत्रों में नियमित दारू भट्ठी की दुर्गंध
यहां होता है आंख-मिचौनी का डबरा (पानी का छिछला गड्ढा)
यहां के कुत्तों का हनीमून बारहों मास।

('सुरेश दलाल नां श्रेष्ठ निबंधों' से)

16

मेरी डायरी में उगी एक सुबह

—ज्योतिष जानी

उस सुबह—

अक्तूबर के रविवार की एक सुबह, हवा के हल्के-हल्के झोंकों से जैसे पारिजात के फूल झर पड़ते हैं, वैसे ही सूरत शहर की पूरी प्रज्ञा की चेतना में से टपाटप कविताएं फूट पड़ीं।

अगली रात आंखें बंद हुईं तब कोहरा था—मात्र उसके संदर्भ अलग थे। सुबह आंखें खोलीं तब शीतलता की छाया में कोहरा—**mist.**

चारों दिशाओं में, चारों तरफ—सुबह नहीं, कविता उदित हुई थी।

कविता से लीप-पोतकर सुबह का आंगन शुद्ध किया हो तो कैसा लगेगा? सारी वास्तविकताओं पर अनेक श्वेत धूम्रवलयों से आच्छादित परदा पड़ जाता है।

हवा के कणों से कोहरे की घनी लकीर जब तक नहीं हटी, आंखें खिड़की की दो छड़ों के बीच में जड़ गईं।

रिल्के याद आ गया। **Fog** का चिरंजीव गायक।

सौंदर्य निर्मिति और शब्द, रूप निर्मिति और भाषा, कोहरा और सुबह, कोहरा और वास्तविकता—कोई समीकरण मन में बैठाने का प्रयास कर रहा होऊंगा!

कोई समीकरण, सौंदर्य निर्मिति का, सौंदर्य निर्मिति तो कवि कलाकार को एक रहस्यमयी मुग्धता की तरह ठगने में अपूर्व आनंद देती है।

दो शब्दों की फांक में सौंदर्य का निवास-स्थान होगा?

कुल पलों के लिए सारा शहर अपरिचित (**alien**) बन गया।

शहर और वातावरण **alien** है या कहीं मैं ही अलग पड़ गया हूं?

कहते हैं कि कोहरे में, ओस भरे कोहरे में अतीत का भंडार भरा होता है।

मेरी स्मृति में इस पल क्या है? नवपल्लवित वसंत और कांटेदार पतझड़ एक साथ आए हैं—एकदम निकट, दोनों का अस्तित्व एकदम सच्चा। और कवि कवासीमीदो,

आप भी दौड़ आए?

I am a single man,

a single hell!

अनन्य क्षणों के ढेर पर बैठा-बैठा खिड़की से बाहर मैं क्या देख रहा हूं? परछाइयां ...बह गईं...बह जाते क्षणों की परछाइयां। शब्द, मैं तुम्हें धिक्कारता हूं। इस सुबह, इस समय, इस पल तुम्हारी निरर्थकता के लिए मैं तुम्हें शाप दूंगा। (तुम भी मुझे खुशी से शाप देना)।

कविता, तुम्हें...नहीं, तुम्हारे प्रति रही उत्कट श्रद्धा अभी तक मैंने खोई नहीं है। इस कोहरे में तो इस श्रद्धा का तीव्रता से अनुभव करता हूं।

कविता, तुम्हारा रूप कुछ ऐसा ही है। रहस्यमय...श्वेत...कोहरे से अच्छादित।

आज की सुबह को शब्दों की कहां परवाह है?

भाषा की, शब्दों की अतिक्रमी कविता 'बन' रही है—the poetry happens—इसी क्षण।

दो उंगलियों के स्पर्श के बीच से सरक जाती अनुभूति को एक कविता ही कभी स्पर्श कर लेगी।

'आब्जेक्ट' में 'इमेज' को देखने की और 'इमेज' में 'आब्जेक्ट' को देखने की अंतर्दृष्टि कविता ही सृजित कराएगी।

जीवन की वास्तविकता के समीकरण में फिर भाषा नहीं होगी। भाषा, इमेज, ऑब्जेक्ट के समीकरण का रूपांतर अपने आप आब्जेक्ट—इमेज—आब्जेक्ट में संक्रांत होगा।

और तभी शब्दों द्वारा शब्दों के अतिक्रमी अनुभूति के विस्तार में कविता का संचार होगा।

डेढ़ घंटे बाद कोहरे के आवरण को चीरकर सूर्य का रथ मेरी खिड़की के पास तीव्रता से बढ़ता आया, तभी ये सब विचार करने का होश आया था।

सुबह बीत गई।

अब दैनिक क्रमिक घटनाओं और मतलबीपन के जाल में मैं अपने आपको बिछाऊंगा।

ऐसे विस्मय को कोई रत्नजड़ी डिब्बी में बंदकर नहीं रखा जा सकता?

दिनभर मन के कोने में अपनी रत्नजड़ी डिब्बी को मैं ढूंढता रहा और उस शाम ही—

एक छत पर, आसमान को छू लेते झूले पर झूलते हुए उसने कहा,

'आज की सुबह–'

मेरी समग्र चेतना कर्णमूल में आकर बैठी।

'आज सुबह मकड़ी का एक मुलायम, रहस्यमय जाला मैंने देखा–ओस के मोती से मढ़ा हुआ।'

रहस्यमय–

कौन? सुबह, कोहरा, मकड़ी का जाला–

या कविता! तुम?

(*'शब्द ना लैंडस्केप'* से)

17

अनुराग की लिपि

—विष्णु पंड्या

हर-एक स्थल विशेष के कितने अधिक चेहरे होते हैं? हमारा परिचय उनमें से एक-दो से होता है। पर्यटन विभाग ने उसकी सुविधा भी प्रदान की है। अल्प समय में, उसकी जानकारी का भंडार देकर वह हमारे पर्यटन को आकर्षित कर सकता है।

लेकिन इन स्थलों के दूसरे भी कितने चेहरे हैं : नितांत एकाकी, नेपथ्य-प्रिय और सौंदर्यमंडित। टूटा हुआ स्तंभ, उपेक्षित जीर्ण खिड़की, ओसारे के बगल के कमरे की सुगंध, अवकाश को आधार दे रहे वृक्ष, संगमरमर के टुकड़े और खंडहर की छायायुक्त लीला देखता हुआ खुला आकाश। यह सब एक यात्रा के अनुभव जैसा है—अंदर की यात्रा। हेमरशोल्ड की निम्नलिखित उक्ति जैसा : The longest journey is the Journey inwards...

मांडवगढ़ के आसपास खंडहर फैले हैं। रूपमती और बाजबहादुर की प्रणय-कथा को संभालकर बैठे इस स्थल तक अब काफी पर्यटक आते हैं, और किराए के रिक्शा द्वारा प्रख्यात स्थलों को देखकर वापस लौट जाते हैं।

वापस लौटकर देखने को मिले तो इस छिन्न-भिन्न गढ़ के अनुराग का शायद ख्याल आए।

इन खंडहरों के पास कोई स्मरणीय बुलंदी नहीं। शुरू में प्रणय और फिर धर्म—ऐसी उसकी नियति इतिहास ने सुरक्षित रखी है। ऐसा लगता है कि इस्लाम और जैन दोनों ने अपनी विशेषताओं को यहां आरूढ़ करने का प्रयत्न किया होगा।

लेकिन तब भी मानव भीड़ के बीच बहे होंगे राग-अनुराग के छींटे। उसकी लिपि इन पहाड़ियों के बीच गुपचुप बैठे मांडवगढ़ में मिल सकती है।

रानी रूपमती के महल की तरफ जाते हुए बीच में एक एकाकी इमारत आती है, उसे दाई मां का महल कहते हैं। महल से दूर, रास्ते की एक शिला पर खड़े रहकर आप

आवाज लगाएं तो प्रतिध्वनि कानों से टकराती है।

शब्द का भी आईना होता होगा? जिसने इस स्थापत्य के खेल का कला-कौशल देखा-समझा होगा, उसे मानव रूप की अपेक्षा मानव शब्द की अधिक चाह होगी?

या फिर, अपना तथा अपने प्रिय पात्र के बीच के संसार को व्यक्त कराने में ब्रह्मा ने मानवजाति का उत्तम मजाक करने का सोचा होगा?

बाज बहादुर और रूपमती के महलों तक पैदल चलकर पहुंचा जा सकता है। दोनों आमने-सामने खड़े हैं : विसंवादी अभिशाप के रूप में नहीं, चिरप्रतीक्षित मुद्रा में। एक-दूसरे से दूर होने के बावजूद उनमें सन्निकट पदध्वनि सुनाई देती है। दोनों में से एक को भी खंडहर कहना अच्छा नहीं लगता, दोनों प्रणय इमारतें हैं। अब उन महलों का आधा ही बचा है, फिर भी उनके सौंदर्य को प्रणय कथा ने अखंड रखा है। रूप और सौंदर्य के बीच इतना ही अंतर होता होगा? रूपमती और उसकी कथा का रूप अब नहीं रहा है, लेकिन सौंदर्य यथावत है।

महलों में कहीं बारीक नक्काशी का काम नहीं है। पत्थर के महल की छत तक पहुंचने के लिए अंधेरी गली में से गुजरना पड़ता है। रूपमती तक पहुंचती दासियां भी जरूर होंगी। और यहां से...

हां, कहते हैं कि यहां से सद्यःस्नाता रूपमती नर्मदा का अभिषेक करती और प्रणयी बाज बहादुर अपने महल से उसे निरखता। इस गहरे प्रणय की धड़कन महलों के पत्थरों में सुनाई देती है। शिल्पविहीन पत्थरों ने प्रेम की भाषा को संभाल रखा है,इसलिए ही 'नाम गुम जाएगा, चेहरा ये बदल जाएगा, मेरी आवाज ही पहचान है...' यह गीत किसी ने गाया होगा तो इसमें आश्चर्य नहीं।

लेकिन किस आवाज की पहचान?

रूपमती की आवाज? बाजबहादुर की आवाज? दो महलों के बीच सुनसान प्रणय रात्रियों की आवाज? या उस विश्राम-कथा के साक्षी समय की टंकार?

अब तो यह सब बीत गया है। नर्मदा के बहते जल-झरने अब नहीं हैं, न बारजे में दासियों से घिरी शृंगार करवाती रूपमती! न नृत्यांगनाओं की देहलय, न बाजबहादुर के साजिंदे।

कुछ दंत-कथाएं रह गई हैं। पर्यटकों की आवाज। कैमरा। उड़ जाते पक्षी। ढाल पर से नीचे उतरते, गाते जाते आदिवासी।

और, अपने में समा गए अनुराग को खोना न चाहती पत्थर की लिपि।

झूला महल की कुछ अलग कहानी है। मुगलकालीन मानस को जिंदगी के झूलते स्वरूपों में अधिक रस आता होगा? अहमदाबाद की झूलती मीनारें देखकर जो सवाल उठा, वह दुबारा मांडवगढ़ के हिंडोला-महल पहुंचने पर भी उठा। इतिहासकारों के लिए यह रंगीले मन की कड़ियां तलाशने जैसी हैं। यह मुस्लिम नजाकत हमें दूसरी दुनिया में

होगी। उसकी वात्सल्यभरी, करुणाभरी मनःस्थिति की दूसरी कोई घटना मुगल इतिहास में सुरक्षित नहीं। शायद, दुर्लभ ही होगा यह तानाबाना। आगरा के किले ने तो सुरक्षित रखा है। दिसंबर की ठंडी धूप में वहां घूमते हुए जब हम 'खास महल' पहुंचे तब किसी ने कहा—यहां उत्तर के मंडप में रहती थी जहांआरा। वैभव के वेग से गुजरते दिनों में भी उसने लिखा : 'मुनीस-उल-अखा।' शेखमुईनुद्दीन चिश्ती की कब्र पर यह रचना अंकित हुई है। जीवन के लगभग सभी वर्षों में, जहांआरा ने पिता की दारुण अवस्था और सत्ता- पिपासु भाई के हत्याकांड को अपनी आंखों से देखा होगा, इसलिए ही सांसारिक रास्तों पर दौड़ी नहीं होगी। जीवनसंगी भी उसने नहीं ढूंढा...कैदी पिता की शुश्रूषा के लिए स्वयं को बंदिनी बनाया। पिता ने पुत्री को अपनी मित्र ही समझा होगा और पत्नी मुमताज को याद करते हुए ताज की तरफ दृष्टि जाने पर गुनगुनाया होगा :

'गर फिरदौस बर, रूए जमीं अस्त
हमीं अस्तो, हमीं अस्तो, हमीं अस्त।'

...लेकिन यह तो थी भग्न मन को मनाने की प्रवृत्ति। जहांआरा यह जानते हुए भी बोली नहीं होगी।

आगरा के किले के ठंडे संगमरमर के पत्थर पर पांव रखते हुए यह अनुभव होता, न होता कि 'मुसम्मन बुर्ज' की तरफ नजर घूम जाती। हां, सोलह सौ छियासठ ईस्वी की एक कड़कड़ाती जाड़े की शाम शाहजहां ने अंतिम सांस ली, तब इस बुर्ज की सीढ़ियों पर से उसका जनाजा निकला था—'ताज' तक। मुमताज की कब्र के पास।

ताज के अनेक रूप हैं : अपनी हथेली में उन सबको पाना असंभव है। शाहजहां भी, आंखें बंद हुईं तब तक उसके लावण्य को संपूर्ण रूप से भाग्य से ही पा सका होगा।

बस-यात्रा से थककर रात में हम आगरा पहुंचे, फिर तुरंत ताजमहल देखने जाने के लिए निकले तब भी खास उत्सुकता नहीं थी। जाकर देखा तो चांदनी रात में ताजमहल ने अपने रूप-गौरव में जरा-सा भी अधूरापन आने नहीं दिया था। दिल्ली में, परिसंवाद में आए, यूरोपीय पत्रकारों में से एक अचानक हमें यहां भी मिल गया तो, आनंदाश्चर्य से बोला, "अरे वाह! आप? आश्चर्य!" शायद, उनको कहना था ताज के लिए, लेकिन फिर वह मिलन के निमित्त कह दिया गया।

ताज तक पहुंचने वाले मार्ग से पहली बार जाने पर ऐसा लगेगा जैसे किसी इतिहास-प्रसिद्ध नगरी की तरफ जा रहे हैं, लेकिन पर्यटकों के बीच से, ताज के मुख्य द्वार के अंदर प्रवेश करें तो तुरंत अनुभव होता है—किसी कलाकार की रचना के संसार की सन्निकटता का।

प्रवेशद्वार के बाद हजार वर्गफुट का उद्यान। बीच में दो अस्खलित झरने, फुहारे, हरे-भरे वृक्षों की छाया और उसके बाद ताज। संगमरमर का यह शिल्प हाथ नहीं बढ़ाता,

बुलाता नहीं। किसी की भी प्रतीक्षा नहीं है उसे। जो है उसमें अंश की अभिव्यक्ति संभव है : कुछ प्रणय के श्वेत कमल की सुगंध, कुछ अतीत की पीड़ा और समृद्ध शिल्प गौरव। मुमताज के व्यक्तित्व की तो यह प्रतिकृति नहीं होगी?

...और, उसने आकार लिया होगा, उससे पहले कितनी बार शाहजहां ने सपने में देखा होगा? इसका जवाब देने में सक्षम यमुना भी अब अनुत्तरित है। ताज के पास रही हैं ये किवदंतियां—इस सफेद संगमरमर के कमरे में, कभी पड़े होंगे रूपगर्विताओं के पग, उनकी शान, और झांझर की झनकार कहीं रह गई होगी। ऐसा लगता था, जैसे पास के महल में नवाबों के घुड़सवार रहते थे। शिल्पियों की याद ताजा हुई होगी, और बूढ़े शहंशाह की मृत्यु से पहले की सिसकी भरी विश्रंभ कथा?

मृत्यु भी प्रणय का विकल्प बन सकती है, यह अनुभव उसमें सुरक्षित नहीं है?

सोलह सौ इकतीस की जून के एक बुधवार को बुरहानपुर में मुमताज ने एक कन्या को जन्म देते हुए आंखें बंद की थीं। तब जहांआरा वहां थी। अलविदा लेती 'महल की शोभा' ने पुत्री से कहा कि वह अपने बाप को कहीं से बुला लाए। शाहजहां दौड़ता आया। तब तक मुमताज ने उसका साथ छोड़ दिया था। बाद की जिंदगी बादशाह ने स्मृतियों के खंडहरों में ही बिताई। सोलह सौ तिरपन में उसकी याद को अमर करने के लिए ताजमहल बनवाया। नादान पुत्र ने कैदी पिता को, माता की कब्र के पास ही दफनाने का रहम जरूर किया।

...और ताज को गढ़ने बनाने वाले हाथ? दंतकथाओं ने उस श्रेष्ठ शिल्पी की उंगलियों की छाप सुरक्षित रखी है। इतिहासकारों के पास बहुत नाम हैं—इस रचना को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए। क्या सच है, इसका हमें पता नहीं। लेकिन एक रोमांचक घटना जरूर न भूलने जैसी है : ताज के मुख्य शिल्पकार राजगीर के रूप में जो नाम लिया जाता है, वह है इटैलियन शिल्पकार जेरोनिमो। वह जब लाहौर में मरा, तब उसे भी दफनाया गया आगरा में ही। कला, कलाकार और उसके स्वप्नद्रष्टा—सबकी मिलन भूमि भी यहीं है। 'दीवाने फरीदी' में कुछ दूसरे नामों का उल्लेख भी है—कंदहार का अमानत खां शिराजी, आगरे का ईसा खां, दिल्ली का पीरा, बनुहर, जाटमल और जोरावर। गुंबज निर्माता ईस्माईल खां रूपी, कश्मीर का रणमल...

कहीं इन सबने साथ बैठकर गोष्ठी की होगी, उनके स्वर सुनाई दें तो कैसा?

ताज ने इसका भी प्रतिउत्तर नहीं दिया। आकाश में एकाध बादल के साथ खेलते चांद को गपशप करने का मन हुआ, फिर भी उसने हुंकारी नहीं दी।

रास्ता हल्दीघाटी की तरफ बढ़ता जा रहा है।

चतुर्दिक बरसता वातावरण है। सत्याद्रि की पर्वतमाला पर मंद गति से वर्षा अभिषेक करने लगी है। वन सृष्टि की हरियाली, जल से धुलकर ताजगी प्राप्त करने का

अनुभव करने लगी। घिरे हुए आकाश के साथ बहुतों को बातें करने की इच्छा होने लगी : पहाड़ी, खाई, वृक्ष, उतार-चढ़ाव वाले रास्तों का घुमाव, गढ़ों जैसे गांव और झोंपड़ियां, तालाब हैं। कानों में वे स्वर पड़ें न पड़ें, पर निष्ठुर वाहन तो दौड़ता जाता है : गंतव्य तक पहुंचना है उसे। बस में बातचीत होती है, गाना-बजाना होता है, हंसी-मजाक होता है और बाहर असीमित प्रकृति ने हाथ बढ़ाया।

वृक्षों की लंबी कतार के बीच रहकर, राणा प्रताप ने अस्तित्व की लड़ाई लड़ी थी और उससे इतिहास को पराक्रम की कथाएं मिलीं। लेकिन, मन में कोई दूसरा ही प्रश्न उठा : प्रताप सिंह ने अकिंचन-सी अवस्था भोगकर भी इस भूमि के लिए क्यों लड़ाई लड़ी होगी? क्या अपने यश को साथ ले जाने के लिए? स्वदेश की वत्सल भावुकता से? बरबादी के अतिरेक से?

...या, भूमि के प्रति अखंड स्नेह के वश होकर ही?

इतिहास भले खामोशी दिखाए। मनुष्य का जीवन इस तरह सीधे-सादे समीकरण में बंध नहीं जाता। महापुरुषों की जीवनी पढ़कर जीवन दर्शन का ज्ञान अधूरा ही रहता है, अस्पष्ट भी। बुद्ध का प्रभाव, मीरा की मृत्यु या शंकराचार्य के जीवन के ऐसे कई पहलुओं से हम अपरिचित हैं।

क्या ऐसा नहीं हुआ होगा कि प्रताप भी देश की मिट्टी के अखंड सौंदर्य के लिए लड़े हों? माटी यदि जीवन के स्वरूप का अंश न हो तो बंकिम बाबू का 'बंदेमातरम' न रचा गया होता। व्याख्या की सीमा का अतिक्रमण कर जब मिट्टी की गरिमा के साथ व्यक्तिबद्ध हो जाता है तब वह अपने समर्पण की क्षणिका की माला ही सृजित करता होगा। इसमें केवल भक्ति नहीं होगी। सृजन भी होगा, कला भी होगी, मीरा के गीतों की तरह।

प्रताप ने जिस भूमि से असीमित स्नेह किया, वह भी ऐसी अपरिचित सुगंध छलकाती है। हल्दीघाटी की व्यूह रचना, संघर्ष की चरमसीमा दिखाते स्थान, एक जगह गिर पड़ा चेतक, पन्ना धाय की स्मृति सहेजता खंडहर—सभी जगह वही रक्तिम रचनाएं हैं। पन्ना धाय के महल के अगले भाग में अब अद्यतन सुंदर स्मारक बन गया है। उसके पीछे खड़ा है यह खंडहर। उसकी सुंदरता में मानवीय गरिमा मिली है। विच्छिन्न हो गए, उसके द्वार से बाहर उदय तालाब और छिपा नगर दिखता है।

वापस लौटते हुए मेरे युवा मित्र ने उद्यान में खिला श्वेत कमल हाथ में लिया तब फिर एक बार वही प्रश्न हुआः जीवन सौंदर्य की कलम जैसी खिलावट छोड़ गए हमारे ऐतिहासिक पात्रों की कितनी गोपनीय दिशाएं छूटी हैं? इतिहास उस पर प्रकाश नहीं डाल सकेगा, यह कार्य तो सर्जक स्वरूपों का ही है।

शिमला की नयनरम्य पहाड़ी देखते ही याद आया किपलिंग। मुंबई में जन्मा और शिमला से मांडले के रास्ते तक पहुंचते-पहुंचते मधुर स्मृतियों को दुहराता यह अंग्रेज कवि 'ईस्ट

इज ईस्ट एंड वेस्ट इज वेस्ट' ऐसे दो वाक्यों का उच्चारण ही कर दिया होता तो शायद, याद करने की जरूरत न रहती।

—लेकिन उसने यहां की 'जखऊ शिखर' की साक्षी में मानव संबंधी रम्य कड़ी भी जोड़ी, इस तरह :

Princess, behold our ancient State
Has clean departed, and we see
't was idleness we took for fate
That bound light bonds on you and me
Amen! here ends the comedy
Where it began in all good will;
Since love and leave together flee...
As driven mist on Jakko hill.

भारत में 'रूद्यार्ड किपलिंग' के यात्रा-मार्ग का पता लगाकर, उन्हें कहां किस रचना का स्फुरण हुआ होगा, यह अनुमान कर और उसे आधार बनाकर एक अमरीकी पर्यटक (महिला) ने पुस्तक लिखी है—'किपलिंग का भारत'। उसमें उसकी रचनाओं में आए भारतीय पात्रों का तथा स्थानों का संकेत है। यह पुस्तक तत्कालीन ब्रिटिशों के मिजाज की भी जानकारी देती है। उनके मन में तो शिमला ही था, 'ऐंग्लो इंडिया'। इस ग्रीष्मकालीन राजधानी की तरफ वे भारत की प्राकृतिक—राजकीय गरमी से दुखित होकर बार-बार आते होंगे और 'मैडमों' से शिमला लचक पड़ता होगा। किपलिंग भी मुंबई से शिमला पहुंचा कि तुरंत 'हाश' कहा : At Simla, all things begin and many come to an evil end.

अब तो वह हिमाचल प्रदेश की राजधानी और पर्यटकों का नगर मात्र रहा है। लेकिन देवदार के वृक्ष और बरसती बर्फ की इस दुनिया में अभी इंग्लैंड के मन को प्रकाशित करते 'स्मृति तारे' कहीं-कहीं झलकते रहते हैं।

मेरे लिए शिमला एक वृक्ष स्मृति ही रह गया है।

शिशिर की एक ठंडी संध्या को 'रिट्ज' होटल के पीछे बढ़ती जाती घासवाली पगडंडी पर हम दोनों मित्र चले जा रहे थे। देवदार का डोलना और हवा की सरसराहट, इधर-उधर खेलते बच्चों की तरह आकाश में से सूरज कब विदा हो गया होगा, पता नहीं चला। शब्दों की अनिवार्यता मिट गई और मौन ने प्रकृति की मित्रता साध ली।

एक मोड़ पर आकर पांव रुक गए। एक वृक्ष और संगमरमर का एक मैला हो गया बोर्ड...हमने शब्दों को पढ़ने का प्रयत्न किया : पहले विश्वयुद्ध में दूर देशावर में अंग्रेज पति लड़ाई के मोरचे पर शहीद हुआ था, उसकी स्मृति में पत्नी तथा बच्चों ने इस वृक्ष को ही स्मरण-स्तंभ मानकर लिखा होगा : प्रिय स्वजन, यह तुम्हारा प्यारा वृक्ष तुम्हारी प्रिय स्मृति में...

('शाहमृग अने देवहुमा' *से)*

18

स्टेच्यू खेलने का मजा

—अनिल जोशी

बरसों बाद अपने गांव की गली में पांव रखा तब पूरी गली के लोग इस तरह देख रहे थे जैसे मैं एकदम अपरिचित होऊं। पंप के निकट पानी उछालते लड़के, एक-दो घूमती-चरती बकरियां, गोबर करती गाय, पुरानी गटरों के जंग लगे ढक्कन, मकानों की छतों पर जाड़े की धूप सेंकते बीमार वृद्ध, उड़ती चीलें—ये सब मुझसे श्वास की तरह लिपट पड़े। लेकिन आज गली का कोई मुझे पहचानता नहीं है। अपने शैशव का आईडेंटिटी-कार्ड दिखाऊं तो भी मेरी गली के लोग मुझे पहचानने को तैयार नहीं। अपनी गली देखकर मैं खूब विह्वल हो जाता हूं, लेकिन बीते समय में मैं कैसे भी वापस लौट नहीं सकता। आंख में इन मकानों को ठूंस-ठूंसकर भर लूं या फिर इस गली को श्वांस के द्वारा फेफड़ों में भर लूं, ऐसी तीव्र इच्छा हो आती है। लेकिन मैं कुछ भी नहीं कर सकता। मेरी गली में भूतकाल का पानी जम गया है।

शाम होते ही मैं अंक लिखना सीखता था। उस तालुके के स्कूल के कंपाउंड में इस तरह धीमे कदम रखता हूं कि किसी को पता न चले। स्कूल का भवन अभी भी वैसा-का-वैसा ही है। रिसेस में हम पानी पीने जाते थे वह कमरा अब एक बड़ा कमरा बन गया है। स्कूल की सीढ़ियों के पास की दीवार का उपयोग हम पेन्सिल घिसकर नोंक निकालने के लिए करते थे, वह दीवार वैसी-की-वैसी ही है। आज भी उस दीवार का कुछ भाग पेंसिल की घिसावट से आधुनिक शिल्पकला के नमूने जैसा लगता है। मैं उस दीवार पर हाथ फिराने जाता हूं तभी मेरी पूरी बारहखड़ी खलबला उठती है। वर्णमाला के अक्षर उल्टे-सीधे हो जाते हैं। सांझ के बढ़ते अंधेरे में मैं उस स्कूल का कंपाउंड छोड़ता हूं, उस समय मैं ऐसी शून्यता से मैं पूरी तरह भर उठता हूं कि कोई मन में भी कुछ बोले तो भी वह तेज आवाज में सुना जा सकता है।

सुबह जल्दी गली में कितने ही लड़कों को टेसू का रंग बनाते देखता हूं, तब बसंत ऋतु की हल्की पीड़ा मेरे शरीर में बिजली के करेंट की तरह छू जाती है। मेरा रंग गोरा

है। मैं टेसुओं को छूने जाता हूं लेकिन छू नहीं सकता। कोई ऊधमी लड़का मुझ पर रंग डाल देगा तो? इस भय से कांपकर मैं एक मकान में घुस जाता हूं। उस मकान की आले जैसे खिड़की में से जितनी दिखती है उतनी गली देखता हूं, मुझे लगता है कि गली बदली नहीं है, मैं बदल गया हूं। शैशव की उछल-कूद प्राकृतिक थी। अब वह उछल-कूद मुझे परफार्म करनी पड़ती है। शैशव तो पतंगे जैसा आया, बैठा, और उड़ गया। लेकिन वह शैशव का उड़ा हुआ पतंगा कभी मेरे चश्मे के कांच पर आकर बैठ जाता है, मेरा चश्मा सरककर गिर जाता है। 'साल्वादोर डाली' ने जैसे सरकती घड़ियों का चित्र बनाया, वैसे ही सरकते चश्मे का चित्र बनाने का मन होता है।

हमारी गली में 'स्टेच्यू' का खेल बहुत प्रचलित था। अपने बचपन के साथियों के साथ मैंने भी 'स्टेच्यू' बनवाया। इस 'स्टेच्यू' के खेल की विशेषता यह थी कि आप स्टेच्यू को आदेश देकर सामने के साथी की सभी क्रियाओं को खिझा सकते हैं। हम सब साथी एक-दूसरे को 'स्टेच्यू' कहकर खिझाने का आनंद लेते। मेरे साथियों में झीणा नाम का एक ग्वाले का लड़का था। उसके कपड़ों से गाय-भैंस और बकरी की बास आती रहती थी। उसकी नाक से द्रव सतत टपकता ही रहता था। वह गेट वाली गली में रहता था। उछलकूद में उससे कोई पार नहीं पा सकता था। वह छप्पर पर या पेड़ पर बंदर की तरह सटासट चढ़ जाता। वह झीणा 'स्टेच्यू' कहने में भी भारी उस्ताद था। वह इतना अधिक चपल था कि हमें तो 'स्टेच्यू' कहने का मौका ही नहीं देता था। हम सब मन मसोस कर रह जाते, लेकिन झीणा की चपलता का कोई जवाब नहीं था। झीणा को 'स्टेच्यू' कहकर खिझाने की हमने कई योजनाएं बनाईं, लेकिन हमारी योजनाएं कुछ काम नहीं आईं।

एक दिन हम मुहल्ले में 'नारगोल'[1] खेल रहे थे तभी गली में हो-हो का भारी शोर उठा। दरवाजे फटाफट खुल गए। हम 'नारगोल' के ठीकरे वैसे-के-वैसे छोड़कर दरवाजा लांघते हुए चौक में आ गए। चौक में आकर देखा तो झीणा बिजली के खंभे के साथ चिपक कर 'स्टेच्यू' बन गया था। हमारे प्राण कंठ तक चढ़ गए। गली-मुहल्ले में जमा हुए लोग प्राण ऊंचा रखकर, कांपते हुए—ऐसा दृश्य देख रहे थे। बिजली का कनेक्शन काटकर खंभे पर से झीणा का शव नीचे उतारा, गली के सभी लोगों को रोना आ रहा था। हम सब साथियों की आंखों के सामने झीणा स्टेच्यू हो गया। वह प्रसंग अभी भी आंख के आगे से हटता नहीं, लेकिन अब झीणा को कौन कहे कि 'हमने तुम्हें स्टेच्यू कहा नहीं है, फिर क्यों तुम स्टेच्यू हो गए? तुम्हें किसने स्टेच्यू कहा?' इस सवाल का मुझे कोई जवाब नहीं देता।

आज उस बिजली के खंभे को अपनी आले जैसी खिड़की से देखता हूं तो मैं स्वयं ही स्टेच्यू जैसा हो जाता हूं। गरमी की दोपहर में उस खंभे के पास एक पिल्ला सोया है।

---

1. एक खेल।

कागज के कितने ही टुकड़े हवा में इधर-उधर उड़ रहे हैं। एक कौआ कुछ क्षण के लिए उस खंभे पर बैठकर उड़ जाता है, इसके सिवा खंभे के पास कागज के पड़े टुकड़ों को पागल हवा जहां जी चाहे वहां उड़ा देती है। इधर-उधर करती है और फिर जहां चाहे वहां फेंक देती है। उन भटकते कागज के टुकड़ों के साथ मैं भी कागज बनकर अपनी गली में भटकता रहता हूं। सभी स्टेच्यू हो गए हैं। कोई हिलता नहीं या कोई बोलता नहीं।

विषाद भरे कदमों से मैं अपने कमरे में आता हूं। उस कमरे में ठाकुरजी के आले के पास ठहरता हूं। हल्के हाथों धीरे से आला खोलता हूं। आला खुलते ही श्रीकृष्ण की पीतल की प्रतिमा देखता हूं। वह प्रतिमा देखते ही सवाल करना पड़ता है, 'भगवान आप भी स्टेच्यू हो गए?' सवाल पूछकर मूर्ति वापस रख देता हूं। खिड़की बंद कर देता हूं और जन्माष्टी के दिनों की यादों के साथ मैं मेले में पहुंच जाता हूं।

कौए की तरह हम जन्माष्टमी के उत्सव की राह देखते। पंचनाथ के निकट उन दिनों भारी मेला लगता। उस मेले में जाने का उत्साह सावन महीना शुरू होते ही हमें लगने लगता। एक जन्माष्टमी के पहले की रात मैंने मेले में जाने की सभी तैयारी कर ली थी। सुंघनी रंग की बंडी और ब्लू पैंट, बिस्तर के नीचे इस्त्री (प्रेस) करने के लिए रख दी थी। जन्माष्टमी की सुबह जल्दी मेरी मां ने मुझे खूब सजाया। माथे के बाल संवारे। आंखों में अंजन लगाया। मैं बहुत सुंदर नहीं था फिर भी किसी की नजर न लग जाए, इसलिए गाल पर काजल की बिंदी लगा दी। एक-दो रुपए के छुट्टे पैसे भी खर्च के लिए दिए। मैं तैयार होकर मेले में जाने के लिए निकल रहा था, तभी मेरी मां बोली, "मेले में जाने से पहले ठाकुरजी के पास दीपक रख आओ। लो दीया और सलाई। भगवान को प्रणाम कर फिर मेले में जाना।"

मैंने सलाई और दीया हाथ में लिया। जल्दी-जल्दी कमरे में गया। खिड़की खोली। भगवान के पास दीया रखा। दियासलाई से दीया जलाया। भगवान की मूर्ति को आधा-अधूरा प्रणाम किया और खिड़की बंद करता हुआ साथियों के साथ मेले में जाने के लिए निकल पड़ा। पूरा दिन मेला घूमा। खूब उछल-कूद की। शाम को, हवा निकल गई गुब्बारे जैसा होकर घर वापस लौटा तो घर का वातावरण तंग था। घर में सबका मुंह फूला था। कमरे के बीच में देखा तो भगवान कृष्ण की काली काजल जैसी मूर्ति खट्टी छाछ में पड़ी थी, ठाकुरजी का आधा जला आला दिखाई पड़ रहा था। ठाकुरजी की मोरपंखी की झाड़ू, गद्दी, छत्र और वस्त्र जलकर राख हो गए थे। सुबह मैंने दीया ठीक से नहीं रखा था, इसलिए ही यह दुर्घटना हुई थी। यह सब बताकर सभी लोग मुझे मेरी गलती का एहसास कराने लगे। मां ने भी मुझे उलाहना दिया। उस दिन मेरे भीतर यह ग्रंथि दृढ़ हो गई कि मैंने ही भगवान को जलाया है। श्रीकृष्ण की पीतल की मूर्ति खट्टी छाछ में रखी मैंने देखी, उस दिन से मैं चैन से सो नहीं सका। भगवान कृष्ण को मैंने

जलाया है इसलिए ही कृष्ण काले हो गए, यह बात मैं जुनून के साथ मानने लग गया। लेकिन यह सब मान्यताएं और प्रसंग आज स्टेच्यू बनकर भयभीत हो गए हैं।

लेकिन यह स्टेच्यू देखने का भी एक मजा है। किसी बालक के खेल-खेल में से जन्मा यह भाव अधिक, और अधिक दृढ़ होता जाता है। किसी वस्तु को गंभीर स्वरूप देकर फिलासफी बघारते हैं तो उसके सामने हल्के-फुल्के उड़ते पतंगे भी हैं, खिलते फूल भी हैं। सही सवाल दृष्टि का है। मृत्यु को हम अत्यंत गंभीरतापूर्वक स्वीकार कर शोकातुर हो जाते हैं। तब कहने का मन हो आता है कि ईश्वर ने हमारे साथ स्टेच्यू को भी बनाया है। इसलिए वह किसी भी क्षण, जिसे चाहे, स्टेच्यू कहकर उसे स्थिर कर सकता है। हमने भी ईश्वर को स्टेच्यू कहकर मंदिरों में और पुस्तकों में स्थिर कर दिया है न! यदि ऐसा है तो शोकातुर होकर मन को दुखी करने का कोई कारण नहीं। खेल में, खेलने के आनंद के सिवा दूसरा कुछ नहीं होना। अहिल्या भी स्टेच्यू होकर राम के स्पर्श से चलने-फिरने लगी थी तो मृत्यु पाकर हम भी चलने-फिरने नहीं लगेंगे, इसका क्या भरोसा?

ईश्वर भी, झीणा ग्वाले की तरह स्टेच्यू कहने में उस्ताद हैं। उड़ते पक्षी को स्टेच्यू कहते हैं तब क्रौंच-वध होता है। बहती हवा को स्टेच्यू कहते हैं तब हवा बंद हो जाती है। खलखल बहते पानी को स्टेच्यू कहते हैं तब वह जमकर बर्फ हो जाता है। हरे-भरे वृक्ष को स्टेच्यू कहें तब वह टेबल बन जाता है। (लकड़ी का टेबल वृक्ष को कहा गया स्टेच्यू ही तो है।) भाषा को स्टेच्यू कहें तब वह शब्दकोश बन जाता है। समय को स्टेच्यू कहें तो वह भूतकाल बन जाता है। इसी तरह शैशव की स्मृति भूतकाल बनकर स्टेच्यू बन गए समय की बात है। कलाई घड़ी सतत चलती रहती है। एक के बाद एक क्षण तेजी से स्टेच्यू बनती जाती है। सूर्य का गोला पूर्व से निकलकर पश्चिम में जाता है। गुलमोहर की डाल पर कान रखने पर ग्रीष्म सुनाई देता है। गुलमोहर में फिर लाल चटक फूल बन किसी का शैशव फिर वापस उसी गली में घुटनियां भरता चलेगा और मेरी गली को स्टेच्यू के खेल से गूंजा देगा।

('स्टेच्यू' से)

19

स्वप्नतरु

—जयंत पाठक

स्वप्न में वस्तु, स्थल, समय—सब आपस में और एक-दूसरे में इस तरह गूंथ-उलझ जाते हैं, घुल-मिल जाते हैं कि उनकी स्पष्ट पहचान नहीं होती। यथार्थ और अयथार्थ के बीच भेद करना कठिन हो जाता है। कभी-कभी हरे पत्तों से भरते जाते उस वृक्ष को स्पष्ट पहचानना आज तक संभव नहीं हो सका है। उसके आकार-प्रकार की सही पहचान भी सरल नहीं, वह कालिदास की वनस्पति के वंश (कुल) का नहीं है और न ही उसका मूल शब्द कोश में मिलता है। इसीलिए तो उसका नाम रखा है स्वप्नतरु—स्वप्न भूमि में उग आया और कभी-कभी दिखाई देता वृक्ष। वस्तु की तरह देखें तो वह कोई वृक्ष है, इतना ही कहा जा सकता है, बस।

इस वृक्ष को मैं बहुत बार देखता हूं। कभी घने अरण्य के बीच में तो कभी किसी पहाड़ की गहरी घाटी के किनारे पर, कभी नदी के किनारे तो कभी फिर बचपन के मेरे घर के बगीचे में। हर-एक बार वह उत्तुंग, तना हुआ, हरा-भरा और घटादार दिखता है। उसके हरे-हरे पत्तों में से हल्की-हल्की धूप को टपकते देखा है। अरे, उसके टप-टप गिरने की आवाज भी सुनी है! कभी वह सूर्य के प्रकाश में नहाता होता है तो कभी फिर ठंड में थर-थर कांपता होता है। कभी उस वृक्ष पर इतने अधिक पक्षी बैठे होते हैं कि पूरा वृक्ष पक्षियों का बना हो, ऐसा लगता है। कभी उसकी झूलती डालियों पर स्वर्ग-पुष्प खिले होते हैं तो कभी मदारी की महुवर के आकार वाले बया चिड़िया के असंख्य घोंसले लटकते होते हैं। वह मच्छीमार पक्षी नदी के गहरे पानी में डुबकी लगाकर, चोंच में मछली पकड़कर तीर की तरह उड़कर उसकी डाल पर आ बैठा! वृक्ष का पत्ता गिर कर पानी में तैरता जाता है। एक पक्षी नीचे उतरकर दाना चुग रहे मुर्गी के बच्चों में से एक को पकड़कर पेड़ में छिप बैठा!

नदी दो किनारों के बीच बहती है। गंदला पानी चट्टानों से टकराता है। फेन उड़ाता, महाघोष से दोनों तरफ के जंगल को गुंजारित करता चला जाता है। किनारे खड़ा वह

वृक्ष झुक-झुककर अंत में गिर पड़ता है, प्रवाह में बहता है, उस पर बने घोंसलों के पक्षी उड़ने का प्रयत्न करते साथ-साथ आगे-ही-आगे बहे जाते हैं, अदृश्य दूरी तक। मध्यरात्रि में एकाएक चीख सुनाई देती है, एक तेंदुआ इस जंगी वृक्ष पर से छलांग लगाकर नीचे उतर आता है और कांपती हुई भेंड़ को दबोचकर पास के जंगल में गायब हो जाता है। उजली चांदी के छागल जैसी रात है और मैं उस वृक्ष की परछाईं के अंधेरे में खड़ा हूं, अकेला। बड़े-बूढ़ों के साथ-साथ चलने से मैं थक गया हूं। पीछे छूट गया हूं। वृक्ष पर ऊपर देखता हूं तो कोई उसकी एक डाल पर से दूसरी डाल पर कूदता है, आवाज करता है और खिसियाता है। अरे, उसके दो हाथ तो लंबे, और लंबे होते एकदम मेरे पास तक आ गए। दोनों हाथों की संड़सी में मैं बंध जाता हूं और ऊपर उठता हूं, आवाज देकर किसी को बुलाना चाहता हूं, लेकिन गले से आवाज निकलती नहीं। शरीर में पसीना आ जाता है। लात मारकर रजाई को दूर फेंकता हूं, आंखें मलता हूं और अपने को अंधेरे कमरे में खाट पर पड़ा देखता हूं। बगल में सो रहे दादा जाग जाते हैं। पूछते हैं, "बेटा मुन्ना, क्या हुआ?" मैं दबी आवाज में कहता हूं, "कुछ नहीं दादा, सपना देख रहा था।"

यह जंगल का वृक्ष रात में मेरी खाट के ऊपर किस तरह आया? उसकी डालें मेरे शरीर को छूती हैं, उसके पत्तों की कोमलता से मुझे गुदगुदी होती है! उसके फूल आले पर रखी देव मूर्तियों पर कैसे व्यवस्थित हो गए हैं! सुगंध से पूरा घर महक उठा है! कोई वृक्ष इस तरह घर में आकर हमें सुखी, दुखी करे—यह कैसे हो सकता है? फिर जागकर देखता हूं तो वृक्ष नहीं दिखता, इसलिए नींद के ऐसे अटपटे सपने को दोहराता हूं। बाल-दोस्तों से बात करता हूं तो उनकी आंखों में चमक उत्पन्न होती है, चमक में ऐसे अनुभव का उनका मनोभाव खेलता दिखता है। बड़े-बूढ़ों से बात करता तो वे स्वप्न के विषय में लंबी-चौड़ी समझदारी भरी बातें बताते और सोते समय राम का नाम लेकर सोने की सीख देते। साथ में यह भी कहते कि हमारे सो जाने पर हमारा जीवन शरीर से बाहर निकलकर सारी दुनिया में घूमता है और जागते हैं कि तुरंत वापस शरीर में आ जाता है। एक बार एक 'जीव' पानी पीने के लिए मटके में गया और किसी ने मटके का मुंह ढक्कन से ढंक दिया तो पानी में ही दम घुट जाने से वह मर गया। बात सुनकर कितना रोमांच होता है! अब तो यह असंभव है, हम इतने अधिक ज्ञानी हो गए हैं न!

यह तो स्वप्नतरु है, इसे मैं जब चाहूं तब देख नहीं सकता, वह तो उसकी इच्छा होगी तभी देखा जा सकेगा और वह जिस रूप में आना चाहेगा आएगा। 'धोधंबा' (एक शहर) जाता तब इमली के पेड़ से 'हरखा भूत' मुझे डराता। और 'परोली' जाते हुए खिरनी की कतार बनकर सलामी देता खड़ा रहता। 'मोरडिए', 'डुंगरे' जाते हुए रास्ते में वह माता की परछाईं बनकर पीपल रूप में बातें करने के लिए खड़ा रहता, तो 'पाधोरा' जाते हुए एक नाले के सामने किनारे गणपति भाई की नरेली में सिंकी रोटी बनकर दिखाई देता तो कभी 'धोधंबा' गांव की एक छोटी पहाड़ी पर साग बनकर सुनहरा फूल

चमकाता खड़ा होता। मैं पढ़ने के लिए गांव छोड़कर कलोल जाने के लिए निकला तो दस कोस के उस पूरे रास्ते वह मेरे साथ चला था। उसने आश्वासन दिया है और मुझसे एक दिन वापस लौटने का वचन लिया है। किसी दुर्लभ क्षण में तो वह और मैं एक ही हों, ऐसा लगा है। अरे, एक बार तो उसने मुझे स्पष्ट कहा कि 'तुम वृक्ष ही हो'।

'सही बात है।' मेरे मुंह से निकल पड़ा था! बस, इसलिए तो घने वन में कुल्हाड़ी की चोट सुनता हूं और मेरा अंग-अंग कड़-कड़ करता टूट जाता है। बैलगाड़ी पर रखकर ले जाता हुआ पेड़ का तना देखता हूं तो तने जैसा निश्चेष्ट हो जाता हूं। होली में मैं स्वयं ही अपने को भड़भड़ जलता देखता हूं। घर के बीच के छोटे खंभों में, पशुशाला के गाय-बैल बांधने के खूंटों में, दीवार में बने दीया रखने के स्थान में, ओसारे में झूलते झूले में—हर जगह वह स्वप्नतरु देखता हूं, अपने को देखता हूं। सपने सच्चे नहीं होते, यह भले कहा जाता हो या माना जाता हो, मेरे लिए तो स्वप्नतरु मेरे स्वयं के जितना ही सच्चा है। यही मेरे लिए तो कल्पतरु है— देव का वरदान। उससे जो मांगो वह मिलता है और जो इच्छा करें वह फलता है। इसीलिए तो आप सबको सवप्नतरु की तरफ से यह हार्दिक आग्रह भरा निमंत्रण देता हूं—महाकवि शेक्सपियर की वाणी में—

Under the green wood tree
Who loves to lie with me
And trun his Merry note
Unto the Sweet bird's throat
Come hither, come hither, come hither...

('तरुराग' से)

20

बैकुंठ नहीं जाना

—बकुल त्रिपाठी

दुःख विपत्तियां वेदनाएं और असहायता।

मेरी अपनी विपत्तियों से संबंधित असहायता मुझे पीड़ित करती है। लेकिन वह पीड़ा सह्य है। क्योंकि या तो स्वस्थ बन विपत्ति के मूल स्थान में मैं अपना कोई दोष देख सकता हूं, देख नहीं सकता तो कल्पना तो कर ही सकता हूं, अथवा फिर मान लेता हूं कि यह कोई विराट न्याय तंत्र का निर्णय है और शरणागति स्वीकार कर कुछ शांति पा सकता हूं। अपनी विपत्तियों के साथ मुझे काम बनाना आ गया है। अभी हाल की बात है, मेरी मां के अवसान के समय की। उस समय मैं बहुत रोया था। एक ही वर्ष बाद पिताजी के अवसान के समय? नहीं। स्वयं पिताजी को ही जाने की खुशी थी, क्योंकि मां राह देख रही थीं।

बात यह थी कि जब कभी साथ बाहर जाना होता तब...पिताजी का स्वभाव उतावला था। वे घर के एक कमरे से दूसरे कमरे में जाते, तो बिजली-बत्ती और पंखा बंद करते जाते। सावधानी रखना उनका गुण था। कभी वे कुछ ढूंढ़ने या दूसरे काम से दूसरे कमरों में इधर-उधर, उधर-इधर घूमते होते तो बत्ती-पंखा खोल-खोलकर देखने का मजा आता। ऐसे उतावले और सावधान थे मेरे पिताजी। इसलिए साथ बाहर जाना होता तो वह तैयार होकर आगे निकल पड़ते। गली के मोड़ पर जाकर खड़े रहते। बेचारी मां को कुछ-न-कुछ छूटा काम पूरा करने में देर हो जाती। शाम को पड़ोसी को बाहर जाना हो तो दूध रखने के लिए वे बगुना रख जाते, और मां उसे स्वीकार कर लेतीं। लेकिन खुद को भी बाहर जाना है, यह याद आते ही वे बगुने...पहला पड़ोसी तो निश्चिंत होकर बाहर चला गया होता, इसलिए तीसरे ही किसी पड़ोसी को सारी परिस्थिति समझाकर दे आतीं। फिर याद आता कि हमारे दूध का क्या होगा? इसलिए फिर वापस दूसरा फेरा लगाकर अपना बगुना भी दे आतीं। उस पहले पड़ोसी ने बगुने का ढक्कन नहीं दिया था, इसलिए ढक्कन के बिना उसके दूध में कुछ गिर जाएगा, इस चिंता से अपने घर से

ढक्कन लेकर वापस उस पड़ोसी को दे आतीं। फिर से उसे सारी पस्थिति का ख्याल करातीं जिससे कि कोई भूल न हो और किसी को कुछ बुरा न लगे और कोई दूध के बगैर न रहे—इन सब कारणों से ही वह लेट होतीं। हमेशा पिताजी को पांच-सात-पंद्रह मिनट राह दिखलाकर ही हम उनके निकट पहुंच पाते। लेकिन फिर ठीक मौके पर उन्होंने युक्ति की—पचास वर्ष की विवाह-जयंती शांतिपूर्वक साथ मनाकर फिर जाने की तैयारी भी साथ की, लेकिन फिर एकदम जल्दी चली गईं। पिताजी स्तब्ध रह गए। फिर तो दिन-महीने बीतने लगे, आंख में सहज आंसू, हाथ में गीता। एक दिन शाम को धीरे से सहज मुस्कान के साथ बोले, "तुम्हारी मां होशियार तो बहुत थी। लेकिन-आखिर में मुझे धोखा दे गई। मुझे पता ही नहीं चला और आगे निकल गई।" हम सब सहज बनकर मां की बातें करने लगे। सीढ़ियों के नीचे कोयले की बोरी रखी जाती थी, वहां से कोयला निकालते समय मां को बिच्छू काट लेता, चार-पांच बार तो काट ही चुका था और उस समय वह कितना रोतीं। हम भी न रो पड़ें इसलिए रोते-रोते हंसने का प्रयत्न करतीं...और ऐसी सब बातें। पिताजी मन-ही-मन कुछ गिनती लगाते होते, लेकिन उधर हमारा ध्यान ही नहीं होता। मां के जाने के बाद ठीक बारह महीनों में, सुव्यवस्थित तरीके से...लेकिन बात क्या थी? हां, दुख की, वेदना की, असहायता की। हास्पिटल में, सुबह जल्दी तीन-चार बजे, खूब गमगीन और भयानक वातावरण लगता है।

एक कवि मित्र कहते, 'मुझे शाम हमेशा बहुत गमगीन लगती है।' लेकिन हास्पिटल में ऐसा नहीं होता। वहां तो शाम को बस्ती-ही-बस्ती। फिर रात में वहां कौन सोएगा, इसकी तैयारियां। 'मैं रहूंगा, आज आप घर जाकर आराम करें', 'नहीं-नहीं, आपको अभी...', 'अरे इसमें क्या? ऐसे समय काम नहीं आएंगे तो...' आदि विवेक वचन, रात का दूध, रात की दवाएं, प्रबंध व्यवस्थाएं...शाम को नहीं, रात में नहीं, एकदम दो-ढाई-तीन के बाद वातावरण भयानक बन जाता है। सब एकदम शांत। सुबह साढ़े आठ बजे जैसे डाक्टर साहब अपने विद्यार्थियों के साथ रिकार्ड देखते-देखते मरीजों की जांच करते-करते नर्सों को सूचनाएं देते-देते, बेड-बेड राउंड लगाने निकलते हैं; वैसे ही सुबह जल्दी, सहज जल्दी, शायद मृत्यु के देव अपने पार्श्वगण के साथ बेड-बेड जाकर दृष्टि मात्र से निर्णय लेते और चौबीस घंटे के लिए सूचनाएं लिखाते, काफी धीरे कदमों से। नाइट-ड्यूटी की जो सिस्टर्स नींद में ऊंघ रही हैं, वे जाग न जाएं इस तरह। पलंग के पास बैठकर बर्फ की थैली मरीज के सिर पर रखते-रखते जरा आंख लग गई स्नेही जनों को कुछ पता न चले इस तरह, ठंडी हवा के हल्के झोंके की तरह...

मुझे उस सुबह रोना नहीं आया। बाद में भी नहीं आया। डर लग जाता। अन्यमनस्क हो जाता। और फिर 'यदि समय पर वह दवा ला पाया होता...सहज... वहां...अधिक छानबीन करके...' इस विचार से अपराधी मन में वेदना का शूल उठ आता अचानक। लेकिन सहन करने लायक सभी दुख, आपत्तियां, करुणाएं, विधि के अनंत

चक्र की अनिवार्य गति तो चलती रहती है। कभी तो स्वयं के दुख पर रोने में भी शरम आती है।

और फिर—अपनी वेदनाओं में से कभी अधिक करुणा के बिंदु निचोड़ लेने की विचित्र लोभवृत्ति पर हंसी आ जाती है।

मैं अपने सुखों के साथ प्रेम में हूं, मैं अपने दुखों के साथ प्रेम में हूं। झूले की मुझे अधिक चाह है। एक तो वह जिसमें गोल-गोल हाथी-घोड़े पर घूमते हैं। हमारे यहां मेले में हाथी-घोड़ा के अलावा कुछ लकड़ी की परियां भी झूले में रहती हैं। उसके गले लगकर झूले में बैठने के लिए हम भाई-बंधु झपट पड़ते। हाथी-घोड़े और परियोंवाला झूला अच्छा तो लगता है ही, झूले से उतरने के बाद दिशाएं गोल-गोल घूमती है और धरती डोलती-सी लगती है। लेकिन मुझे जो अत्यधिक इच्छा है वह तो ऊपर-नीचे होते झूले की, खतरनाक चरखी की। लकड़ी के छोटे झूले वाली चरखी तो होती ही—दो लोग उसे दाहिने से बाएं चलाते। आज भी मेले में, उत्सव में जाएं तो दिखती है वह विशाल खतरनाक चरखी, लेकिन मुझे बहुत अच्छी लगती है। खट-खट चलते यंत्र और फटफट घूमते पट्टे के साथ नीचे लकड़ी का मंच होता है, उस पर झूला होता है। छड़ खिसकाकर झूले पर व्यवस्थित बैठो और जैसे घर के अंदर आने के बाद छड़ की रोक लगाई जाती है वैसे ही खटाक के साथ वह आगे का छड़ फिट कर दिया जाता है। दोनों हाथों से उसे जोर से पकड़े रखना पड़ता है। 'छड़ छूट तो नहीं जाएगी न।' यह रोमांचक कलपना करें तभी फटाक करता चरखी का चक्कर शुरू। आप ऊपर। दूसरा झूला नीचे। आप धरती से ऊपर। नीचे का सब कुछ दूर दिखने लगता है। नजर भरकर देख लीजिए, नीचे के आदमी बौने। चौथे में सब बैठते हैं। आपका झूला अब सबसे ऊंचाई पर है। क्षितिज का कमल अब फुल्ल-प्रफुल्लित है। आप अद्भुत रस का अनुभव कर रहे होते हैं। वहां... अचानक आपका झूला झटके के साथ नीचे उतरने लगता है। अब नीचे। और नीचे। वापस आ गए क्या? हां, आप नीचे के मंच तक आ गए हैं, उस तरफ का झूला भर गया है और अब...फट्-फट्-फटाक...फट्-फट्-फटाक-फट् यंत्र चलने लगता है, गरजने लगता है। उछलने लगता है। आपकी चरखी ऊपर-नीचे, गोल-गोल, घूमने लगती है। कहते हैं, समुद्र में डूबता आदमी तीन बार नीचे-ऊपर होता है, आप तीन बार, चार बार, पांच बार, बार-बार डुबकी खाते हैं, ऊपर आते हैं। श्वास भर जाती है, छाती पर दबाव बढ़ता है, जैसे अभी निकल पड़ेगा प्राण। उस सामने के झूले पर दूर-दूर, योजनों दूर कोई बालक रोता है। आपको लगता है कि आप भी बच्चे होते तो अच्छा होता। आवाज लगाते। आवाज लगाने का, रोने का, खिलाखिलाकर हंसने का, झूलने का, बाघ की चमकती आंखों के सामने हिरन की तरह भयभीत हो जाने का, उस छड़ को अपने प्राणों की तरह जोर से पकड़े रखना, सैकड़ों दीयों को एक नजर में पी जाना। आपको चक्कर आता है। आनंद आता है और खटाक...खटाक...खटाक की आवाज धीमी पड़ने लगती है।

'निमंत्रण तो आया घनश्याम का'। अंतिम बार आप पश्चिम क्षितिज पर हवा में झूल रहे हैं। ऊपर जाते हैं अंतिम बार। आप नीचे उतरने लगते हैं, नीचे, नीचे, चार-तीन-दो-एक ...झूले वाला आपका झूला पकड़ लेता है। बंधन में से आपको मुक्त करता है। चलिए, आपकी यात्रा पूरी।...झूला दो क्षण खाली झूलता रहता है...अभी...अभी ही चलेगा फिर से फटाफट...आप नहीं होंगे...झूला तो चलता ही रहेगा।

भय से रुंधते सांस का अनुभव और वह खुला आकाश—यह दो कुछ अलग नहीं। वह ऊर्ध्वगमन और निम्नगति—दोनों कुछ भिन्न नहीं। एक विराट उत्सव के ही ये अंश हैं। मीठे-कड़वे, पसंद-नापसंद, रम्य-भयानक, सुंदर-असुंदर—वह सब यहां है। वह सीढ़ियां चढ़कर लकड़ी के मंच पर पहुंचने पर सामने शुभ्र संगमरमर की ध्यानमूर्ति भी कल्पित कर सकता हूं। घुटनों के बल बैठ मैं सिर नवाऊंगा। लेकिन महानाट्य के जिस दृश्य में मुझे पात्र बनाया गया है उसमें नहीं है फ्रेंच क्रांति की रक्तसरिता में डूबना, या नहीं है बौद्ध संस्कृति के किसी पीले-सुवर्ण प्रकाश में नहाना। मेरे हिस्से में आया है आज का यह छोटा-सा मेला. मेले में पसीने से नम हुए शोर में लकड़ी के उस मंच पर से चरखी के झूले में बैठना, यंत्र की खटाखट के बीच धीरे-धीरे शून्य में उड़कर ऊंचे आकाश में तारों के साथ झूलना, सरकना, नीचे घाटी में गिरना, फिर अंधकार में खो जाना।

'यह सब तो ठीक'—मन कभी कान में पूछता है, 'तुम्हारी सभी बातें ठीक हैं, लेकिन कोदरजी का क्या?'

'कौन कोदरजी?' मेरी आवाज में भय प्रवेश करता है।

'वही, रुधनाथ वाले...'

मैं कांप उठता हूं।

कोदरजी शीशम की लकड़ी जैसे काले-काले थे। लेकिन शीशम तो चिकना और मुलायम होता है। कोदरजी की चमड़ी झुर्रीवाली अर्थात कैसी झुर्रीवाली! आंखें छोटी, शरीर दुबला-पतला, उस खड़ी झाड़ू से रास्ता साफ होता है, उसका बांस कोदरजी से भी ऊंचा लगता है।

छोटा गांव। एक दिन गली में अचानक आवाज आई, 'रुधनाथ सिपाही कोदर जी को मार रहा है। हंटर-हंटर।'

धड़-धड़, धड़-धड़ सीढ़ियां उतरकर हम दौड़े। धूल में पड़े हैं कोदरजी, हाथ-पैर समेटकर। काली चमड़ी पर पसीने से चिपकी है काली-पीली धूप। पीठ पर निशान उभरे हैं। सांट के। सांट क्या होती है, यह आज ही पता चला। फिर से, फटकार पड़ती है रुधनाथ सिपाही के हंटर की। फिर से! फिर से! 'साले, कमजात!'...सटाक! 'साला... हरामजादा'...सटाक! मैं कांप उठता हूं। चीखना चाहता हूं, पर चीख नहीं निकलती।

कोदरजी ने काम का चार आना अधिक लिया था। एक बार रुधनाथ ने दिया। दुबारा रुधनाथ जी के बेटे जयंती की पत्नी ने भी दिया। तब कोदरजी ने मना नहीं

किया...शायद मना किया भी होगा...समझा होगा, जयंती की पत्नी ने ईनाम में दिया है। शायद जयंती की पत्नी ने गलत कहा होगा ससुर जी को और चार आना दिया ही नहीं होगा कोदरजी को। वह स्वयं गोरस-कुल्फी लेकर खा गई होगी...ऐसा ही कुछ था।

बेंत की छड़ी पर चमड़े की पट्टी गोलाई से लिपटी होती। हंटर के ऊपर मुट्ठा। नीचे चूहे के कान जैसी और कुत्ते के कान जितनी बड़ी दो चमड़े की पत्तियां केवल शोभा के लिए होतीं। सटाक-सटाक! हंटर कोदर के शरीर पर, पांव पर, घुटने पर, गरदन पर पड़ता। जैसे-जैसे वह तड़पता जाता है, वैसे-वैसे अलग-अलग अंगों पर हंटर की चोट पड़ती जाती और मांटे पड़ती जातीं...।

रो पड़ता हूं। हिचकियां लेता हूं। दौड़ता घर आता हूं। फिर एक ही श्वास में सीढ़ियां चढ़ता हूं, गिरता-पड़ता फटाक दरवाजा खोलकर आवाज लगाता हूं, 'मां, रुधनाथ सिपाही कोदरजी को मार रहा है...मार रहा है। बचाइए...पिताजी...रुधनाथ सिपाही है न, वह...' घर में मां नहीं...पिताजी नहीं। कमरे-कमरे में देखता हूं। हिचकियां। रुधनाथ के घर की तरफ हमारी जो पश्चिम की खिड़की है, उसकी छड़ पकड़कर छड़ों के बीच से देख रहा हूं—रुधनाथ गरज रहा है, 'साला चोर...'। घर दूर था, सामने धूप। सब कुछ धुंधला। रुधनाथ का चेहरा क्रोधित। वह दृष्टि ऊपर करता है। सब लड़के भाग गए हैं। रास्ता सुनसान, सिसकता-सिसकता कोदर पड़ा है, हाथ-पांव समेटकर...

फिर फौजदार को कुछ नहीं हुआ।

देर शाम को आकर कोदर के सगे-संबंधी उसे ले गए होंगे।

आज भी खिड़की की छड़ों में से, अपने घर, अपने जेल, अपनी असहायता की खिड़की में से शरीर समेटकर पड़े पड़े करा रहे कोदरजी को मैं देखता हूं। देखता रहता हूं। ईंट उठाकर फौजदार के सिर पर चोट पर चोट करता हूं। लेकिन उसे चोट नहीं लगती। छड़ों के बीच से देखता रहता हूं—

धीरे से आज मैं कोदरजी को कहता हूं-

"कोदरजी, मैं कुछ भी नहीं कर सका..."

"हूं!"

"उसकी कलाई पकड़ने की मुझमें शक्ति नहीं थी, कोदरजी! आप जानते हैं न? मुझे माफ कर देंगे न?"

"हे भगवान!"

"कोदरजी...लेकिन मुझे याद है, आप ढोलक बहुत अच्छी बजाते हैं।"

कोदरजी की आंखें थोड़ी खुलती हैं।

"हम आपके घर ढोलक सुनने दौड़ आते थे। आपकी ढोलक सुनकर मुझे तो नाचने का मन हो जाता। हम सभी बच्चों का..."

उनकी आंखों में कुछ चमक आती है।

आपको याद है न? पिताजी मजाक में किंतु प्रेम से कहते, 'हमारे गांव में रेडियो आएगा तब कोदरजी का ढोलक बजाने का प्रोग्राम रखेंगे।'

कोदरजी के चेहरे पर हल्की मुस्कुराहट आ जाती।

पिताजी नहीं हैं। गांव में रेडियो स्टेशन आया नहीं है। कोदरजी नहीं हैं। रुधनाथ फौजदार भी अब तो मर चुका। वह धूलवाला रास्ता भी अब कांक्रीट का बन गया है। जयंती की पत्नी अब बूढ़ी हो गई है।

जानता हूं, जानता हूं, सुनता हूं—सटाक्-सटाक्, हंटर के सटाके सुनाई देते हैं। अभी भी सुनाई देते हैं। साथ-साथ कोदरजी के ढोलक की आवाज भी।

ढोलक की आवाज की बात आप सबको डरते-डरते भी कह दूं—ऐसा लगा इसलिए इतना लिखा।

('बैंकुंठ नथी जावुं' से)

21

ईश्वर, आप—मैं—हम सब ही!

—प्रवीण दरजी

चलिए, भाई चलिए। चतुर नर और नारी चलिए। चलिए, आज हमें हमारी कथा जाननी है। हमारे पूर्वजों के विषय में बहुत सारी जानकारी मिलने वाली है। इकट्ठे होइए, आनंद, बस आनंद। कैसे रहे होंगे हमारे कुल-वंश, कैसी रही होगी हमारी पूंछ और मूंछ? समझदार लोग विचार करें, सिर बड़ा होगा और हृदय छोटा होगा या फिर हृदय छोटा होगा और सिर भी छोटा होगा। क्या पता? राम जाने या प्राण जाने, पूर्वज जानें या पंडित जानें। हम तो भाई इकट्ठे मिलें। आदेश आया है, आदेश। एकदम ऊपर से, कुल पुरोहित (बहियों में खानदान का विवरण रखने वाला) आया है। मोटी-मोटी बहियां लाया है। कुल और कुलदेवियों की बातें करता है। सब तेजी से बोलता है। हमारे बाप के बाप और उनकी इकहत्तर या इकहत्तर हजार पीढ़ियों की वह बात करता है। उसकी आंखों में भारी जादू है। क्षण में तो कहता है—आप फलां हैं। आपकी जाति फलां है। आपका घर यह है। आपकी सृष्टि यह है। यह आपके समुद्र और यह आपके पहाड़, यह आपके वृक्ष-पत्ते और यह आपके झरने। मौज-मस्ती करें। किसी बात की कमी नहीं है। आपके यहां तो कामधेनु के सरल-सीधे बछड़े, बहुत हैं। सुमेरु पर्वत पर आपके बाप-दादा लोटते-पोटते और मौज-मस्ती करते। क्षण में वे देववृक्ष पर कूदते, तो क्षण में इंद्रधनुष के एक किनारे से सर र्र र्र र्र से सरक आते । एक क्षण देव नदी में वह स्नान करता और दूसरे क्षण उड़ जाता...उड़ता जाता...उड़ता जाता वह...वह...उस देवपथ पर। क्षण में वह देवयुवती के संग होता, तो क्षण में आराम से वह सुराही के पास बैठा होता। भाई आपके तो बाप-दादा, सभी ही सुंदर और प्रसन्न हैं। आई मीन इंद्र जैसे, सुरेंद्र जैसे। सुरेंद्र का नाम सुनते ही हम चौंक गए। पुरोहित से कहा, "भाई तनिक ठहरो, जरा आराम करो और आराम करने दो। जल्दीबाजी क्यों करते हो? जरा फुरसत से बात करो।"

हमने पुरोहित से पूछा, "क्या हमारे बाप-दादा इंद्र जैसे थे? तो, तो फिर वे भी इंद्र की तरह सुरलोक में आनंद-वानंद करते होंगे न? न कमाने की चिंता और न पेट भरने

का प्रश्न। संघर्ष ही नहीं, फिर दुख तो कहां से होगा। मात्र सुख...सुख और सुख में ही डूबे होंगे न ? मौज तो है ही। कहा गया एक-एक शब्द सार्थक होगा। सबका कोई भरण-पोषण करता है, सेवा के लिए हाजिर रहता है। हमें तो मात्र जबान ही हिलानी होती है। इतना ही न? वाह, मेरे पुरोहित, वाह! आज तो हम सब बेहद खुश हैं। कितना सुंदर होगा वह सुर-सदन और कैसा होगा उनका निवास! आंगन में खुशी से उछलती होंगी घूंघरवाली गाएं और घी-दूध की तो रेलठेल।...खाना हो वह खाओ, पीना हो वह पीओ—अरे, सोमरस पीओ, न कोई मोलभाव, न कुछ मिलावट, सौ टंच का माल। जो चाहो वह मिलेगा उसी क्षण। न किसी की राह देखना और न किसी लाइन में खड़े रहने का झंझट और न ही 'स्टाक में माल नहीं' की लटकती तख्ती। बच्चे अपने खिलौने खेलते होंगे। पालना कैसा होगा? निरा चांदी का और सोने का ही न? वह गिर जाता होगा।"

पुरोहित थोड़ा झिझका। हमारे चेहरे पर छलक आया गुलाबीपन देखकर वह थोड़ा मुस्कुराया। मन में सोचा होगा कि ठीक निशाना बैठा है। दो-पांच अधिक वसूल लेंगे। हां, भाई हां। हम तो भोले-भाले हैं। सुख की बात करो तो हमारे लिए सुख ही सुख। दुख के कपड़ों में सुख का आकाश जड़कर हम तो चौपाल और बाजार में सुख की छड़ी को पुकारें, ऐसे हैं। फिर पांव से सिर तक दुख क्यों नहीं होता? चिंता करते हैं मेरी बला से। पुरोहित ने उत्साहित होकर हंसते-हंसते एक और फैसला दिया, "देखिए, सुरेंद्र और ईश्वर—आदि की सारी बातें तो ठीक। ईश्वर तो आपके बाप-दादों की उपज है। आप इस तरह हर वक्त सुख का ही अनुभव करते होते तो ईश्वर आदि की जरूरत कहां होती? यह तो जरा अधिक अच्छे दिन आए तो आपके पूर्वजों ने स्पर्धा शुरू की। वह उसका विरोध करता है और वह किसी दूसरे का विरोध करता है। शुरू हो जाते हैं फिर तर्क-वितर्क, झगड़े, मारपीट और मेरा-तेरा, तुम छोटे और मैं बड़ा का झगड़ा। पापाचार की प्रतियोगिता होती, भारी अंधाधुंध होती, कोई किसी की मानता ही नहीं। सुख का पार नहीं और सुख किसी को मिलता नहीं। ऐसी अव्यवस्था कैसे चलेगी? कुछ बड़े-बूढ़े इकट्ठे हुए। उन्हें चिंता होने लगी। उन्होंने रोष प्रकट करते हुए कहा, 'यह क्या तमाशा शुरू किया है आप सबने?' और इस प्रश्न के साथ देवाधिदेव की बात चल पड़ी। एक परम शक्ति। हमारे दुखों और सुखों का हिसाब मांगने वाली शक्ति। हमें माफ करने वाली या सजा देने वाली शक्ति। हमें मालामाल करने वाली या मार डालने वाली शक्ति। और सब चुप हो गए। उस शक्ति की बात आने पर थरथर कांपने लगे। कुछ गलत किया हो तो उसका स्मरण कर सीधी राह चलने का निश्चय करते। दुख के दिनों को याद कर-करके गुजार देते। सुख आता तो उसे वह बांटता, पाप से वह डरता, मृत्यु के विचार से वह कांप उठता।'

पुरोहित की बात सुनकर हम झिझके—बात तब यह है, यही न? भुनभुनाकर हम

कुछ ढीले पड़े। ढीले क्या पड़े...अरे, गिरे-गिरे...एकदम नीचे ही। हमारे चेहरों की लाली का रंग फीका पड़ने लगा। भाई पुरोहित जी, सच कहें, यह ईश्वर आदि का चोंचला तुम्हें अच्छा लगा? हम ही पाप और हम ही माफ! इसमें और किसी तीसरे की समझ की जरूरत कहां आ खड़ी हुई? लेकिन उस बात का अब क्या? बड़ों को जो अच्छा लगा वही सही। चलो, इसकी भी अब आदत पड़ गई है। न छूटने वाली बुरी आदत। कुछ नहीं तो हमारे बड़ों ने ईश्वर तो हमें दिया ही है न। सुंदर-सुंदर। प्यारा आधार-स्तंभ। आनंद मनाओ, दोस्त! ईश्वर हमारी संतान हैं—हमारी। और फिर भी ऊपर, ईश्वर हमारा मिथ है। उसकी छत्रछाया के नीचे सब कुछ किया जा सकता है, जो आता हो वह सब कुछ। चाहें वह सब कुछ, उसके नाम की कसम ले सकते हैं, लड़ सकते हैं, खा सकते हैं, खोद सकते हैं। वह सदा दयालु है। हर बार वह माफ करता है। हमारी यह एक अच्छी मिथ है। पुरोहित जी, आनंद करो, भाई तुम भी, तुम्हें खुश होकर पूरा ईश्वर देता हूं। मौज करो मौज। ईश्वर एक सुंदर मिथ है।

('वेणुरव' से)

22

अरण्य के आरपार

—मणिलाल पटेल

अंधकार की तूलिका घूम गई है, वृक्षों ने नक्काशी की हुई काली चादर ओढ़ ली...उसमें से धुंधला-धुंधला जंगल का आकार दिखता है...और अब तो काला राक्षस सनसन करता बहता है, जंगल में चारों तरफ बहता है...पहाड़ों की कतारें वृक्षों को ओढ़कर सो गई हैं...वृक्ष एक-दूसरे की बांह में बांह डाले सोने का प्रयत्न कर रहे हैं। तने का कालापन अब चोटी की कोंपल के चेहरे पर भी छा गया है, रंग रात की राह पर चला गया है...और सब जगह काला शोक मनाया जा रहा है। दिन में कांच की गोलियां खेलती पत्तियों का हरापन अब लुप्त होता है, उसके मुंह से काला फेन टपकता है, काला पानी लेकर बहती नदी उस टपकने की टपाटप होती काली आवाज सुनकर श्याम-श्याम मुस्कुराती है...नदी का गीत वीरान जंगल में गूंजता है। रात जैसे खंडहरों के मरसिसी गाती है। झरने उसमें सुर मिलाते हैं। अंधकार की चौकसी करता उल्लू कालेपन को गट-गट पीता है। उसकी आवाज सुनकर खंडहर जैसे मंदिर के गर्भगृह का अंधकार कांप उठता है। कुछ चमगादड़ अंधेरे में स्नान करते होते हैं...गिद्ध कामरत हैं, कहीं किसी की भूख अंधेरे को खाती है, बिन काया का कोई पूरे अरण्य पर छा जाता है।

पक्षियों के पंखों पर अंधकार के शीशे का लेप हो जाने से वह उड़ना भूल जाता है। जैसे पक्षी अंधेरे घोंसलों में लथपथ पंख डाले पड़े हैं...उनके नीचे कहीं सुबह की धूप सेई जाती होगी, लेकिन उसका कुछ पता नहीं। काली बरसात होती है। काला पानी टपकता है। काला रास्ता दूर होता जाता है। काला पानी पीकर वृक्ष बेहोश हो गए हैं। अब कहीं कुछ भी संचार नहीं है...स्थिर हुए शीशे में चित्रित जंगल अचेतन पड़ा है...टूटे किले। टूटे मंदिर के ऊपर अंधकार का समूह ध्वजा-पताका चढ़ाने निकले हैं...काले खून में लाल-लाल ढोल बजते हैं...अंधेरा वृक्षों को पीकर नाचता है...नजर पहुंचती है वहां तक, चतुर्दिक पहाड़ियों की कतारों के इस पार, उस पार, यहां-वहां, ऊपर-नीचे, डाल-डाल तक अंधकार हिनहिनाता है...लेकिन उसकी आवाज सुनाई नहीं देती, अंधकार से पानी

कांप उठा है। कोंपल मैं। कली में आग बुझ गई होगी? शांत हो गई होगी भय की मारी...नहीं। नहीं। अंधकार के कान में आनेवाले कल की बातें करती होगी। किले टूट गए हैं। पहाड़ पिघल गए हैं। वृक्ष बह गए हैं? सब कुछ क्यों एकाकार है? जहां से उजाला आता था, वह दरवाजा भी बंद हो गया है। अब क्या होगा?

खंडहर बैठता है, उसकी देह में बिजली के काले निशान बनते हैं। वह घबरा जाता है। एक काला नाग आगे बढ़ता है, फन फैलाता है। उसके सिर पर लाल रंग का फूल है...उसकी सुगंध जामुनी है, लेकिन फैलती नहीं। चमड़ी की गंध चाटने के लिए नाग की जीभ लपकती है। सिर पर अंधेरे की मणि लेकर नाग अब पागल हो गया है। काले जल की बहती नदी है, उसकी गहरी घाटी की लाल-लाल सेवार भरी दीवारों में नाग अदृश्य हो जाता है। भीतर कुछ देर सब हिलने-डुलने लगता है। अंधकार में तैरते जहाजों की लाल पाल फटने-फटने को होती है। सांसें सूर्य बन गई हैं, आग चंद्र बनकर उत्सुक धरती को छूती है। अंधकार की नदियां फैलती जाती हैं। जंगल का चेहरा उन नदियों के केसरी जल में तैरता है। दांत अंधकार को कुचलते हैं, पहाड़ियां फटने वाली हों इस तरह अंधकार से लिपट-लिपटकर उसे पुचकारती हैं, कोई नीचे की ओर फिसल पड़ा। जंगल मुक्त हुआ। हाश, वह नाग अब कुंडली मारकर अंधकार को सेता है। उत्ताप ठंडा पड़ गया है, रुक गया है कोंपल का फैलना। आकाश सूरज का अस्त होना देखता होगा? दिशाओं की बंद आंखों में जंगल, वृक्ष, पहाड़, व्याप गए हैं...और काली बरसात में सीदी सैयद की जाली में से जंगल देखने के लिए कवि की आंखें, अभी भी कौओं को काला देखते ही चमक जाती हैं, चौंक उठती हैं...सर्वत्र जंगल फैलता जाता है। ओ कवि! अंधकार को सुलगाकर उसके उजाले में सूर्य शतक लिखने का निर्णय कर सकेंगे? कहें...

पग-चिह्न का आकार दिखता है अब, यह रास्ता ऊपर के जंगल की तरफ गया है। वृक्षों के पग-चिह्न एक समान पड़े हैं...उसकी नमी में उजाले का शिशु जम्हाई लेते लेते बैठ जाता है...नारी के चेहरे पर रीछ के पगचिह्न कहां से? उजाले से वह चेहरा धो डालती है...एकाएक किसी का दरवाजा खुलता है। धूप का बंजारा बैल पर सामान लादकर निकला है। पूरे रास्ते उनकी सांड़नियां झूमती चलती हैं...घोंसले में से पक्षी उड़ा, उसके पंखों को आसमान का निमंत्रण है। वह उल्लू वृक्ष की बखोल में छिप गए अंधकार से प्रार्थना करता है, अपने में समा लेने को। झरने की कलकल करती क्रियाशीलता में से निकलता उल्लास सुनकर वृक्ष झूमने लगे हैं अब। वृक्षों की डाल पर पड़ा पवन का शव वापस जीवित हो गया है...हवा अब बालक बनकर विनोद करती है, कोंपल-फूलों के साथ। कभी यह पवन पुरुष वृक्षों की गहराई में दौड़ता है...और पहुंचता है पहाड़ों के शिखर पर। कभी जिन्न बनकर झकझोरता है वृक्षों को और खड़खड़ हंसाता है हरे-भरे जंगल को।

नदी नववधू की तरह जगकर नित्यकर्म में खो गई है। वृक्ष एक-दूसरे को रात में देखे सपने की बात कहते हैं, सुनाते हैं। किरणें उनकी बातों में हुंकारी भरती हैं...मर्यादित जंगल अमर्यादित दिखता है। छोटे धुंधले पहाड़ ताजा होकर एक-दूसरे को बुलाते खड़े हैं। फूल कलियों को खुलने का पाठ पढ़ाते हैं। पत्ते विस्मित होकर धूप को देख रहे हैं। वृक्ष चांदनी भरी चादर में खेलती छाया के शिशुओं का पहरा करते खड़े हैं। कहीं अंधेरे का पशु गहराई में हलचल करता सुनाई देता है। हरेपन का नशा चढ़ा है जंगल को, उसके उत्सव में कोहरे का गुलाल उड़ रहा है। जंगल को धुआं बादल जैसी भूरी भाषा सिखाने निकला है। हरियाली को उस धुएं की भाषा अच्छी नहीं लगती। बंजारों के बैल पहाड़-पहाड़ पहुंच गए हैं। आकाश नहाकर बदन पोंछ रहा है। पक्षी अंधकार के घर में से छूटने का उत्सव मनाते हैं। पक्षी प्रेम में पड़े हैं...जंगल को भूख लगी है, अब वह थका-सा लगता है। कवि! क्या खिलाएंगे इस जंगल को आप? धूप खिलाएंगे और वर्षा पिलाएंगे? बोलिए...

दिन छा गया है घाटियों तक। थोड़ा खुल गया है अरण्य। उसे उसकी निविड़ता को नष्ट करनेवाली बस्ती का भय लग रहा है। देखता हूं तो ऋतुएं जंगल के ऊपर से गुजरती दिखती हैं। पलाश-सेमल की ऋतु गई, फिर गुलमोहर-शिरीष खिलते हैं, लेकिन ये दोनों तो बस्ती के वृक्ष हैं। बरसात में खिलता बबूल भी वन के किनारे से लौट गया है। यहां तो अनामी वृक्षों की आदिम छायाओं की महिमा है। उसके नीचे बैठते कविश्री उशनस् की सानेट माला 'अनहद नी सरहदें' याद आती है। और फिर दूर की निविड़ता में चला जाता हूं। पर्णों की डुगडुगी सुनता हूं। झरनों की झरझर भी। अपना और अपने नगर का नाम भूलकर वृक्ष-वृक्ष पर चढ़ता-उतरता हूं! मुझे जंगलमय बन जाना है। वृक्ष बन जाने की इच्छा प्रबल बनी है। एकाएक बादलों का काला बवंडर घिर आता है। और जंगल फिर से गाढ़ा-गहरा होकर बाघ की तरह गर्जना करता है, पहाड़ गर्जनाओं का जवाब देते हुए हिल उठते हैं...पानी-पानी होकर वन-पहाड़-वृक्ष बह चले हैं। बह चला हूं मैं भी उनके साथ, नालों-झरनों के साथ। नदी-सोतों के साथ। नहीं, नहीं। मैं तो इन पत्तों पर से ओस बनकर टपकता हूं न! फिर शिशु की मुस्कान जैसा बन, धूप में चमक उठता हूं। वन कलरव कर उठता है, संगीत के स्वर सुनाई देते हैं। वनस्पति ने पत्थरों-पहाड़ों को ढंक दिया है। घास कठोरता को चीरकर उगी है। वन की भूमि अब एकदम शीतल-चिकनी-कोमल लगती है। वृक्ष बस्ती के जख्मों को ढंककर नवपल्लवित है। सारी उदासी मधुर बनकर खिल उठी है वन में। घास पत्थर को बाहु में भरकर प्रेम करती है। कवि! कविता करेंगे इसकी?

जंगल में एक आदिम जंगल दिखता है, दबा हुआ। टूटे तालाब में उसकी कथावार्ता का शव तैरता है। वन की सघनता ने उस शव को—चिकने हरे रेशमी दुपट्टे में लपेटकर ढंक रखा है। उस आदिम अरण्य में अभी भी सीताजी का हरण होता है। मायावी मारीच,

मृगवेश में खड़ा है। लक्ष्मण भटक जाते हैं। जटायु के कटे पंख अभी भी फड़फाड़ाते हैं। पांडवों की भूमिशैया दिखती है। धर्मराज और द्रौपदी के दुखद उद्‌गारों को आज पहाड़ों ने सुना था। पुरुरवा ने उर्वशी को यहां देखा था। चित्रांगदा ने ऐसे ही वन में विहार किया था। कच की विद्या ऐसे वन की साक्षी में ही संपन्न हुई थी। नल यहां ही दमयंती को छोड़कर गया था। उन अनजाने वृक्षों को वैदेही का विलाप आज भी याद है। किसी कुंज में कृष्ण की राह देखती राधिका तरसती है। इन फूलों की छाया में किसी देवकन्या के पांव पड़े होंगे। इस अरण्य के उस पार एक अरण्य है, उसके पार भी अरण्य है, जहां पहुंचा नहीं जा सकता। कविता का काम पड़ेगा, वहां जाने के लिए? शाकुंतलम् जैसा कोई अभिज्ञान हो तो...कवि! संस्कृति और प्रकृति के बिना निभेगा आपकी कविता को?

धूप ढलती है वृक्षों की छाया के साथ। रुधिर और अरण्य की अपार माया है, लेकिन इस अरण्य के उस पार कुछ टूटे मकान हैं। उस उपेक्षित बस्ती में भूखे बालक तड़पते हैं। उसके उस पार गांव है। गांव में समय शोषण करता है गरीबी का। किसी कोने में सड़ गए आदमी की दुर्गंध से सिर फटा जा रहा है, लेकिन बस्ती की नाक बेकार हो गई है। कितने ही शहर संत्रास लिए आंख के सामने खड़े हैं। वहां आतंकित है जीवन! दोपहर की आग में प्राणी की तरह, सड़क पर ठेलागाड़ी खींचते दंपति के भूखे बालक अब रो नहीं सकते। योजना की शीतलता से नक्शे नष्ट हो गए हैं। कितने लोग प्रकाश के भोग बने हैं। उजाले की आग में आदमी जीवित सुलग गए हैं। तो कवि! आप सूर्य की साक्षी में 'अंधकार-शतक' लिख सकेंगे? कहिए...

हमें एक बार अरण्य बन जाना पड़ेगा। फिर से अवतरित होने के लिए नष्ट होना पड़ेगा। इस ध्रुव सत्य की बात कविता में करनी है, तैयार हो जाओ, हे कवि!

(*'अरण्योमां आकाश ढोलायशे...'* से)

23

कच्चा रास्ता

—किशोरसिंह सोलंकी

अब तो जहां नजर डालो, वहां काली-काली सड़कें। हमारे यहां कोई खराब काम करे तो कहा जाता है कि इसने काला काम किया। अब लगता है कि हमारी धरती माता के साथ भी हम काले काम करने लगे हैं। बगीचों में या खेतों में, खेत के किनारे या सीमान में, चरागाह में या बाजार में, जहां देखो वहां तक, अब काली-काली सड़कें बन गई हैं। काले रास्तों की संस्कृति ने धीरे-धीरे हम पर अधिकार कर लिया है। अर्थात हम चल भी नहीं सकते काले-काले रास्तों के बिना। घर को (गांव का) घर नहीं रहने दिया है और न धूल को धूल। आप नहीं मानेंगे, लेकिन हमारे गांव से खेतों तक जाने का कच्चा रास्ता तो पूरे गांव का द्वार था एक जमाने में। अब वे कच्चे रास्ते क्या और बात क्या? मात्र रोड! रास्ता भी नहीं!

कच्चा रास्ता कहते ही मन में ऐसा लगता है जैसे युगों से कोई वृद्ध दाढ़ी फैलाकर खड़ा हो! हमारे खून में यह खून बनकर धड़क रहा है आज! 'कच्चा रास्ता' तो हमारा हृदय है, हमारी देह है। उसकी रेत में अभी भी हमारे पदचिह्न कहीं दबे पड़े होंगे। 'यह रास्ता' भी कैसा? मौसम-मौसम में उसका रूप बदलता है। किसी बहुरूपिया को ही देख लें न! दो-तीन सिर छिप जाएं इतनी ऊंची थूहर की बाड़। बाड़ के आसपास बेकार की घास-पत्ती तो झुंड में इतनी उग आई थी कि चिड़िया भी उसमें घुस नहीं सकती थी। और 'कच्चे रास्ते' में बालू तो इतनी अधिक होती कि उसमें घुटनों तक पांव अंदर धंस जाते।

ऐसे रास्ते से बैलगाड़ी या गाड़ी जाती है। बैलगाड़ी भी कैसी? लकड़ी के पहियों वाली। आज जैसी नहीं कि डनलप के पहिए हों। फिर उसमें कब पंचर हो जाए और कब बीच रास्ते में रुक जाए, कुछ कहा नहीं जा सकता। लेकिन हमारी बैलगाड़ी के पहिए बढ़ई इतने मजबूत बनाते थे कि दस-पंद्रह वर्ष तो उन्हें आंच भी न आती! उसकी धुरी में सप्ताह में एक बार तेल देना होता, जिससे वह ठीक से घूमता रहे और बैलों के

कंधों पर अधिक जोर न पड़े—ऐसे तो उसकी देखभाल होती।

अरे भाई, गांव में बैलगाड़ी सबके पास नहीं होती! पूरे गांव में मात्र चार-पांच सग्गड़ या चार-पांच बैलगाड़ी होती हैं। पर वह पूरे गांव की अमानत कही जाती। आज जैसा नहीं कि मेरा मेरे बाप का और तुम्हारे में मेरा हिस्सा! भले ही गांव के किसी आदमी का पैसा न लगा हो, लेकिन वह गाड़ी सबके काम आती। सबके बीच ऐसा भाईचारा था।

हां, किसी कारणवश एक-दूसरे से झगड़ा हुआ होता या मारपीट हुई होती, तो भी अच्छे-बुरे प्रसंग पर तो सब साथ ही होते! आज की तरह नहीं कि नाक की नोक ऊंची रखकर पूरा जीवन गुजार देते! गांव में चार बड़े-बूढ़े उलाहना देनेवाले मौजूद होते और उनकी बात माननी भी पड़ती!

खेतों से अनाज या चारा घर लाना हो, ईंधन भरना हो या फिर खेतों में खाद डालनी हो तो बैलगाड़ी जोड़ी जाती। सग्गड़ को आड़े रखकर उसका कटहरा बनाया जाता। फिर बैलों को तैयार करते। चार-चार जोड़ी बैल एक साथ जोड़े जाते। दो बैल कटहरे में और दो उसके आगे—इस तरह बांधे जाते। फिर तो खाद भरकर खेतों में डालने के लिए सारी रात फावड़ा और टोकरी (खंचिया), कूड़ा-करकट और अहीरों के बाड़ों से खाद भरी जाती! रात में एक बार चाय-पानी होता और इस तरह पूरी रात खाद की टोकरियां हम उठाते और सग्गड़ खेत में ले जाकर लाइन से खाद गिराते। सुबह होने तक तो दो-चार खेतों में खाद पड़ गई होती।

लेकिन खाद से भरी गाड़ी जब कच्चे रास्ते से गुजरती तब मुश्किल खड़ी होती। घुटनों तक बालू में से गाड़ी निकालते-निकालते तो आदमी और बैल की आंखों में पानी आ जाता। हांकने की आवाज से बैलों को जोश दिलाया जाता, फिर भी गाड़ी फंस जाती तो सब कमर का सहारा लगाकर आगे बढ़ाते अथवा फावड़ा लेकर पहियों के आगे की बालू एक तरफ खींचना शुरू कर देते।

अब तो ट्रैक्टर आ गए हैं, इसलिए गाड़ी का युग खत्म हुआ। ट्राली में खाद भरी कि फट देकर चाभी घुमाई। भप...भप...भप...आवाज के साथ धुंआ निकलना शुरू और आ गए खेतों के निकट। पांच-दस मिनट में तो खेतों पर पहुंच जाते। तुरंत फावड़े लेकर लग जाते तो खेतों में खाद-ही-खाद। लेकिन उन दिनों में खेतों में खाद डालनी होती थी तो कोई बड़ा उत्सव मनाने जैसा होता था!

उस कच्चे रास्ते से गुजरना है, यह याद आते ही सौ मन का निश्वास निकल पड़ता। लेकिन हम छोटे थे तब इस रास्ते की ठंडी-ठंडी बालू में सुबह जल्दी लोटने का आनंद लेते! और किसी का गरम-गरम थप्पड़ भी खा लेते। आपको लगेगा कि बालू तो नदी के तल में होती है, कच्चे रास्ते में कहां? तो आपका प्रश्न गलत नहीं समझा जाएगा। मैंने पहले ही कहा है कि 'कच्चा रास्ता' मौसम-मौसम में रंग बदलते गिरगिट जैसा था।

कच्चे रास्ते से ऊपर आओ तब गोचर-भूमि आती। चारे के ढेर को देखो तो छोटा पहाड़ जैसा लगता। इसलिए बरसात के पानी को निकालने के लिए एक ही रास्ता था, वह था यह कच्चा रास्ता। अब तो बरसात भी कहां होती है? केवल एक-दो झोंका आया न आया। बरसात छोड़कर वापस न आइएगा दूसरे वर्ष! अब तो लोगों को, पशुओं को, पक्षियों को पीने के लिए पानी की एक बूंद तक नहीं मिलती। हमारे पापों के कारण अकाल के पहाड़ साल-साल बढ़ते जाते हैं। क्यों, पता है? हमने कहीं जंगल-झाड़ी रख छोड़े हैं? जंगल की तरफ दृष्टि डालो तो कहीं हरा वृक्ष या एक हरा तिनका भी दिखता है? फिर कहां से होगी बरसात? बरसात को भी आपकी इन काली-काली सड़कों पर बरसने की इच्छा नहीं रही है!

लेकिन उन दिनों तो बरसात दिल खोलकर होती थी! जिस गांव में होती, उस गांव में रहती और जिस जंगल में होती उस जंगल में ही! चारों तरफ जल का अंबार! अरे! कच्चे रास्ते में सिर-सिर तक पानी पूरे वेग से बहता होता! उसके बहाव में कोई पशु, मनुष्य या वृक्ष बच जाता तो समझिए बड़ा भाग्य!

तब मैं छोटा था। मैं और मेरा लंगोटिया मित्र, दोनों खेत में थे, तभी बरसात शुरू हो गई। देखते-देखते पानी-ही-पानी। फिर भी हम घर जाने को निकल पड़े। कच्चे रास्ते के आगे के मोड़ पर आकर रुक गए। कच्चे रास्ते से जो पानी बह रहा था वह देखकर हमारे पांवों में कंपकंपी आ गई। सिर पर जोरदार वर्षा हो रही थी और आगे वेग से बहता पानी। एक इमली के तने के पास छिपकर हम खड़े रहे।

वर्षा के साथ हवा का भी इतना वेग था कि मत पूछो। हम इमली के तने से अच्छी तरह चिपककर खड़े थे, लेकिन हवा के एक जोरदार झोंके के साथ ही इमली हिल गई! हम सावधान हो गए और पानी में कूद पड़े। इमली उस तरफ, हम इस तरफ! पानी में कुछ दूर तक बहे, लेकिन आगे जाकर वृक्ष का एक तना हाथ लग गया! उसे पकड़ लिया। बच गए। फिर तो देर रात तक जोर-जोर से चीख मारकर दोनों रोते रहे। घर से सब लोग हमें ढूंढने निकले थे। फिर भी हम कच्चे रास्ते से निकलकर घर नहीं पहुंच सके थे। वह कच्चे रास्ते का रुद्र रूप था—जोश में बहती नदी जैसा। जिसकी रेत में हम पांव के निशान बनाकर गिनते थे, एक-दूसरे के पगचिह्न पर कदम रखते थे, उसकी बालू में लोटते थे, उसी कच्चे रास्ते में उस समय पांव रखने की भी हमारी हिम्मत नहीं होती थी। इसलिए ही तो हम बरसात की बूंदों के साथ अपने आंसुओं को मिला रहे थे।

यह वही कच्चा रास्ता है, सर्दी में जिसमें झरने बहते। कच्चे रास्ते के उद्गम की तरफ, जहां एक बड़ा जामुन का पेड़ था, उसके तने के पास से शुरू होकर बहते झरने पूरे कच्चे रास्ते को नहलाते। और सुबह जल्दी हम खेतों में सिंचाई करने जाते तब झरनों का ठंडा पानी हमें जैसे बर्फ की तरह जमा देता! हमारे पांवों में पहनने को तो कुछ होता नहीं था। नंगे पांव, नादान जैसे, सुबह जल्दी खाट पर से उठकर, यदि देर हुई तो दातून

चबाते-चबाते या आंखें मलते-मलते कड़ाके की ठंड में निकल पड़ते खेतों की तरफ आधे शरीर से। आपकी तरह नहीं कि ठंड में अच्छी तरह गरम कंबल ओढ़ा हो, हाथ-पांव में मोजा हो और माथे पर टोपा। हम तो फटी-पुरानी कोई मोटी चादर, जितनी ओढ़ पाते उतनी ओढ़कर दांत के जबड़े बजाते-बजाते दौड़ते थे खेतों तक, बिना रुके।

सर्दी के दिनों में कच्चा रास्ता ठंडा बर्फ जैसा लगता। हमें सर्दी में भीगना नहीं पड़े इसलिए हम बच्चे एक साथ फावड़ा-कुदाली लेकर चल पड़ते। उस जंगल के पास बड़ी नाली बनाते और आगे से आने वाले पानी को घुमाकर नाले से जोड़ देते। तब पूरा गांव हमें आशीर्वाद देता। इसलिए हमें ऐसा सार्वजनिक काम करने का उत्साह आता।

लेकिन कच्चे रास्ते का रुद्र रूप तो देखने को मिलता गरमी में। जैसे कि भगवान शंकर आक्रोश में आकर नृत्य करते हों। बैशाख की दोपहर तपती हो तब कच्चे रास्ते के बालू तो हीरा-माणिक की तरह चमकते होते। हम कच्चे रास्ते के किनारे इमली के पेड़ों की छाया में खड़े रहकर देखते। चमकते बालू ऐसे लगते जैसे छलकता पानी। लेकिन यह तो केवल भ्रम था! फिर भी इतने गरम-गरम बालू पर नंगे पांव चलकर हम खेतों तक खाना ले जाते थे। हमारे पांव में फफोले पड़ जाते। फिर भी गए बिना छुटकारा नहीं था। हमारे पांव और जूतों के बीच बारह कोस की दूरी थी। फिर भी हम कच्चे रास्ते में पांव रखते, उससे पहले इमली की छाया में बैठकर पांव में रुई बांध लेते। बीनकर लाई हुई रुई हमारी इक्कीसवीं सदी के जूते थे।

इस दोपहर ने तो हमें कवि 'शेष' की 'बैशाख नो बपोर' शीर्षक कविता याद करा दी—'बैशाख नो धोम धख्यो जतो तो।' उस गरम-गरम बालू पर जो चला हो, जिसने अनुभव किया हो, उसे ही पता चलेगा कि बैशाख की तपन क्या है? दोपहर के समय चिड़िया तक नहीं फड़कती, अरे, वृक्षों के पत्ते भी मुरझाकर नीचे गिर गए होते, खेतों में यदि बाजरा या मेथी हो तो वह भी मुरझा जाती एकाएक! पशुओं को तो छांह में बांध देते तो भी वे हांफते होते। पक्षियों को जहां शरण मिलती वहीं सिमटकर बैठे होते। जागता होता है केवल कच्चा रास्ता।

कच्चे रास्ते के बालू में से भाप निकलती। जैसे धरती का पसीना सूखता हो। मेरे पिताजी कहते, 'गरमी के तपते बालू में बिस्तर लगाकर सोना चाहिए।' वे सोते भी थे। अपना सारा शरीर अंदर रहे, इस तरह गड्ढे जैसा बनाने के बाद उस पर मोटी चादर अपने ऊपर ओढ़ लेते। फिर दूसरे से आसपास की बालू अपने ऊपर डलवाते। घंटा-डेढ़ घंटा बालू में शरीर को सेंकते। ऐसा करने से फिर कोई रोग कभी नहीं होगा। हमने भी दोपहर में उस कच्चे रास्ते में अपनी कब्र खोदी है। हमने भी अपने पसीने से कच्चे रास्ते को धोया है। लेकिन आपको तो 'सोना-बाथ' लेना है, क्यों?

'सोना बाथ' अर्थात गरमी का स्नान। गरमी भी कृत्रिम! प्राकृतिक गरमी नहीं। एक बड़े बाथरूम जैसे कमरे में एक कोने में इलेक्ट्रिक हीटर लगाकर उससे गरमी उत्पन्न

करते हैं, आग सुलगती हो इस तरह। बाथरूम में अंदर चारों तरफ पाइनवुड लगा होता है, जो गरमी को सूखने नहीं देता। उसमें जाकर बैठें तो तपने लगेंगे। एक सौ अस्सी से एक सौ नब्बे डिग्री फारेनहाइट उष्ण तापमान होता! लेकिन यह सब कुछ बनावटी. न? मिट्टी में कितनी शक्ति है, उसका कैसा उपयोग है, यह आपको कहां से पता होगा? मिट्टी के उपचार से ही गांधीजी जीते थे, ऐसी श्रद्धा आपको कहां से होगी? मिट्टी का महत्व आपको नहीं समझ आएगा, मेरे भाई!

धूप को सहना भी एक आनंद है। हमने कच्चे रास्ते की धूप को सूंघा है, प्याला भरकर गटगटाया है। हमने कच्चे रास्ते की छाती का दूध पीया है। अपनी नस-नस में उसे रोपा है। कच्चे रास्ते तो हमारी काया है, हम तो उस कच्चे रास्ते की संतान हैं!

अपने पिता की तरह कच्चे रास्ते में हम जन्मे हैं। अंधेरी रात में, कोई किसी को देख न सके, ऐसे काले घोर अंधकार में हम हाथ में लकड़ी लेकर कच्चे रास्ते से गुजरे हैं! चारों तरफ से चलती हवा जब सिर से ऊपर जंगल से टकराती, तब जो घोर भयानकता उत्पन्न करती, वह हमारी छाती को भी कंपकंपा देती! उसके आसपास खड़े वृक्षों के पत्तों-पत्तों में से एक-एक भूत खड़ा होता है, कच्चे रास्ते के किस कोने से कौन आ जाए? वहां से गुजरते हुए हमने ऐसी फड़फड़ाहट अनुभव की है! फिर भी हमें अच्छा लगता है हमारा कच्चा रास्ता!

चांदनी रात में कच्चे रास्ते का सौम्य स्वरूप देखना भी एक आनंद है! थूहर के जंगल और वृक्षों से छनकर आती चांदनी का एक आह्लादक स्वरूप होता है! हमने उस चांदनी को अंजलि-अंजलि बटोरा है, उछाला है और उसमें स्नान भी किया है। कच्चे रास्ते से गुजरते चंद्रमा के उजाले में अपनी परछाईं पकड़ने के लिए हमने धमाचौकड़ी की है, तब कोई बड़ा-बूढ़ा हमें धमकाता कि 'अपनी परछाईं के साथ खेला नहीं जाता। ऐसा करने से बीमार पड़ जाओगे।' लेकिन फिर भी हम नहीं मानते थे।

कच्चे रास्ते का ऋण है हमारे ऊपर! हमारे पांव के तलुए को वज्र समान बनानेवाला यह कच्चा रास्ता है। आपको आश्चर्य होगा, लेकिन कच्चे रास्ते के बालू हमने मुट्ठी-मुट्ठी खाए हैं। हमारे दांतों के बीच कचड़-कचड़ जो आवाज होती थी, उसका रोमांच हमें आज भी होता है! मिट्टी का स्वाद कैसा होता है, यह आपको तो कहां से समझ आएगा? कारण कि आप में और मिट्टी में बारह कोस की दूरी है! आपको तो मिट्टी जैसा मन चाहिए। बालू तो आपने अपने जीवन में देखी भी नहीं होगी! आज वह कच्चा रास्ता मुझमें उग आया है तो मैं शान और भान खो बैठा हूं! कच्चे रास्ते तो मेरे जीवन का साथी है, भाई!

हम कच्चे रास्ते के प्रवासी...कच्चे रास्ते-कच्चे रास्ते जाते हैं। कच्चा रास्ता मेरी आंखों का नूर और हीर है। मेरे श्वासोच्छ्वास में कच्चा रास्ता मिल गया है। हवा बनकर खून में घुल गया है। कच्चा रास्ता तो मेरे जीवन की धड़कन है आज तक!

लेकिन आपको कान में कहूं? अब तो वह कच्चा रास्ता रहा नहीं, काली-काली सड़क बनकर सांप की तरह लपलपाती है। जंगल का निशान भी नहीं रहा। नहीं हैं नीम और इमली के पेड़। यह रोड तो हमारे कच्चे रास्ते के आसपास का हरापन भी निगल गई है। इसलिए आज पूरा जंगल वीरान लगता है। फिर आप ही कहें कि बरसात कहां से आएगी? तेज बहाव हो भी किस तरह? इस काली-काली संस्कृति ने तो हमारा सत्यानाश कर दिया है, इस बात की मन में चुनचुनाहट होती रहती है। इस धरती मां से कैसे काले कर्म कराने लगे हैं आप?

आज मैं ढूंढता हूं अपने बीते कल के कच्चे रास्ते को। कहां गया हमारा कच्चा रास्ता? कहां गए हमारे घुटने तक के बालू?

('भीनी माटीनी महेक' से)

24

वह यह शहर

—प्रीति सेनगुप्ता

जो जन्म के साथ ही अपना बना था, वह शहर। बचपन में समझ या अपेक्षा के बिना जिसे अपनाया था, वह शहर। किशोरावस्था में अनजाने में जिसे माना था, वह शहर। उसकी गलियों की धूल में मुक्त रूप से कदम रखे थे। उसके खेतों के वृक्ष की छाया में गोष्ठी की थी, आग-गाड़ी की पटरियों पर संतुलन रखकर चले थे, कई बार साइकिल पर से गिरे थे। अनजाने में ही जो स्वजन बन गया था, वह यह शहर। केवल प्रेम के अधिकार से ही मेरा हो गया था, वह शहर।

इसे स्वप्न का शहर नहीं कहूंगी। उसमें रहकर थोड़े सपने संजोए थे, लेकिन उसके लिए नहीं। शायद उसके साथ मन के हर-एक स्तर पर इसलिए ही इतना तादात्म्य था। वही संपूर्ण था, उसके लिए स्वप्न संजोने की आवश्यकता ही कहां थी? मंदिर के देवता, आकाश के बादल, फूलों के रंग या पक्षियों के कलरव की तरह, जैसे बहुत अधिक विचार किए बिना ही, उसका प्रमाणभूत अस्तित्व मान लिया था।

जिसे छोड़कर जाने का विचार भी मन में नहीं आया था, वह यह शहर। उससे दूर रहना कितना भारी पड़ेगा, इसकी कल्पना भी नहीं की थी। तब तो दुनिया के दूसरे शहर देखे-जाने-समझे नहीं थे, लेकिन अब तो देखे हैं न? इसलिए कह सकती हूं कि सबसे अधिक आनंददायक, उत्साहप्रेरक है यह शहर जो मेरा ही है, वह यह शहर।

कोई भी शहर मात्र उसके मकान, सड़क, दुकान, रेस्तरां, नाटक-सिनेमा के कारण प्राणों के समान प्रिय नहीं बनता, वह प्रिय बनता है। व्यक्ति के संबंध से और किसी व्यक्ति का अभिप्रेत उसके सुझाव ही हो सकते हैं। मुझे यह शहर काफी अच्छा लगता है, क्योंकि यह मुझसे मेरे जितना ही परिचित है। अरे, सचमुच ही, मैं उससे परिचित हूं, इतना ही नहीं, बल्कि वह भी मुझसे परिचित है, यही बहुत बड़ा

कारण है। परस्पर की पहचान ही तो किसी भी संबंध के मूल में होती है।

ऐसे स्थान को हम कितनी तरह से पहचानते हैं? उसके रूप से, रंग से, सुगंध से, स्पर्श से, उसकी आवाज से। नववर्ष के प्रभात में 'सबरस-सबरस' की पुकार, रोज सुबह संन्यास-आश्रम की आरती का रव, गुजरात कालेज की कक्षा के लिए गंभीर घंटनाद और पाकिस्तान के साथ के युद्ध के समय लगा, अभी भी बजता सायरन। गरमी की दोपहर की सुस्ती, बेचैनी, शाम को वापस लौटते पक्षियों का कलरव, रात में जगह-जगह चौकीदारों द्वारा बजाया जाता समय-सूचक घंटा, देर-देर रात में और सूखी नदी के पाट पर तने सरकस के तंबुओं से शेर-बाघ की दहाड़!

इस शहर में एक समय मिलों की पारी के लिए बजती व्हिसलों से दिन की गति का माप होता था। अब कम होती जाती इन व्हिसलों के द्वारा समाज की आर्थिक स्थिति नापी जा सकती है। कुछ बजनी बंद हो गईं, कुछ भूल गईं, कुछ बढ़ीं। हमेशा मुख्य व्यस्त मार्गों पर, सतत् दौड़ते वाहनों की धमाल, धमाचौकड़ी, शोरगुल, हार्न, एक्सेलरेशन, दूषण, दुख, कलुषित हवा। श्वास-श्वास के साथ जीवन घटता जाता है—आरोग्य की तरह। शाम धुंधली, रात म्लान, तारे धुंधले और कम दिखते हैं। कभी छत पर सोए-सोए, गाढ़े काले आकाश में तेजस्वी तारामंडल देखता रहता और ब्रह्मांड के प्रश्न उद्भव होने पर मन में दुविधा होती।

जीवन के सामाजिक स्तर पर तो प्रश्न बेधड़क पूछे जाते हैं। वही के वही, बार-बार पुनरावर्तित हो-होकर अर्थविहीन बने उबाऊ प्रश्न! कितनों का उत्तर होता नहीं, कितनों का उत्तर कोई सुनता भी नहीं। चलिए, बातें करें, संवाद रचें, प्रश्न न पूछें। जहां कोई किसी की परवाह नहीं करता, लेकिन फिर भी एक-दूसरे की सम्मति-सम्मान पर ही जीवन का सुख निर्भर है, वह शहर।

विरोधों, आभासों, विघ्नों और अंतरायों से भरपूर शहर। अग्रगण्य जीवों का यह जीवन है और उसके लिए ही वह स्वयं जीवित है। बदलता जाता, आघात पाता यह शहर कभी जैसे मेरा नहीं रहता। मेरा ही रहे यह जरूरी है, और इस कारण ही उसके अनुरूप होने का प्रयत्न करती रहती हूं। यहां कुछ अपेक्षित या आकांक्षित नहीं। वर्षों से यहां पड़ी रही उस पुरानी केंचुली में चुपचाप प्रवेश कर जाती हूं। आश्चर्य तो यह है कि अभी समा सकती हूं। यह मांप उम्र और अनुभव बढ़ने या शरीर के मोटे-पतले होने पर आधारित नहीं। चक्रव्यूह जैसी वास्तविकता में प्राण पीड़ित भी होते हैं, फिर भी नए-नए लघु नगरों के अनजान आकारों में व्यवस्थित होती रहती हूं। कभी बिना निमंत्रण के मेहमान जैसी होती हूं, कभी अंतरंग बन भूल जाती होती हूं।

जीवन की विषमता ही यही है कि अपनों के साथ रहना संभव नहीं होता और

प्रियजनों से दूर होते हैं। फिर भी इन दोनों का सामीप्य—शब्दों में तो रहता ही है—आत्मीयता के तंतुओं से बुना गया है यह शहर। जहां मुग्धता के अवशेषों पर प्रगल्भता की चुनाई हुई है, वह शहर। कितने ही अधिकारों को जहां नीलाम किया है, वह शहर। जन्म के साथ ही ईनाम की तरह जो मिला, वह यह शहर। सारी दुनिया के संदर्भ में जो एकमात्र घर है, वह यह शहर।

(*'घर थी दूरनां घर'* से)

25

अमलतास और गुलमोहर

—मफत ओझा

सोसायटी के बीच, रोड के दोनों तरफ दो वृक्ष आमने-सामने होड़ में आ गए हैं। उनमें एक तो है अमलतास और दूसरा है गुलमोहर। उनके आसपास दूसरे वृक्ष हैं, लेकिन वे गरमी के ताप से बेचैन रहते। उन्हें भी पांव होते तो वे मनुष्य की तरह किसी बंगले में जाकर सोते होते। सैनिकों जैसे वृक्षों के बीच दो आमने-सामने की छावनी के सेनापति जैसे दो वृक्ष इतने तो खिले हैं कि—

यह अमलतास...

दूसरे मौसम में तो उसकी तरफ किसी की नजर ठीक से जाती ही नहीं। किसी चतुर लड़के की तरह वृक्षों में छिपा खड़ा होता है। दूसरे वृक्ष मौसम-मौसम में वेष बदलकर नए बनते हैं, लेकिन अमलतास उद्धत नहीं। चाहे जहां से आकर हवा छुए, वह अपना बाना नहीं बदलता। बैशाख का ताप पूरी तरह तपता हो तो भी वह एक के बाद एक वस्त्र पहनता रहता है। मन में होता कि अभी राजा गोपीचंद की तरह वेष धारण कर लेगा। लेकिन यह अमलतास कोई साधु थोड़े ही बनना चाहता है? वह तो संसारी की तरह छाती खोलकर खड़ा है तो खड़ा है। सूर्य तपता है, उस तरह वह नहीं तपता, खिलता है। तोते-सा हरा रंग पहनकर फूल निकलने लगते, अभी कल देखा था, वह अमलतास तो कहीं अदृश्य हो गया। राज्याभिषेक होता, तो ऐसे राजकुंवर जैसा मोती का सेहरा लटकाकर खुश होता है । उसकी डाली-डाली पर से फूल झुके रहते हैं। बारीक नजर से देखने वाले को सूर्य उसमें कभी छुपा-छुपी खेलता लगता, तो कभी वह पत्तों-पत्तों को बींधता सरकता लगता। अमलतास सूरज को निगल जाता हो, ऐसा दिखता। आकाश मार्ग से वापस लौटती अभिसारिका व्यथित हो जाती, अपने हार को तोड़कर फेंक देती, जो यहां बिखरे रहते। हार का एक-एक हिस्सा जैसे फूलों का एक-एक झुमका हो।

तपते ताप में तप्त आंखें धरती पर कहां से ढल सकती थीं? ऊंचे उड़े तो उसे भस्म

होना ही था। आकाश-धरती के बीच आकाशवृक्ष जैसा यह अमलतास देखकर आंख ठंड से शीतल होकर ढल पड़ती है। आंख का एकमात्र वैभव ही तो है अमलतास। मामा के हृदय जैसा। उसे देखकर हर्ष होता। उसके नीचे जाएं तो आधे ढंके, आधे खुले। धूप-छांह में हमारे ओढ़ने की मलमल की चादर जैसी। उससे कुछ शरीर ढंकता, इसलिए तो ऊंची-टेढ़ी दृष्टि कर उसके फूलों में भ्रमर बनकर बंद हो जाने में आनंद है। तारों के झुमके दिन में अमलतास पर आकर झूलते होंगे। यह अमलतास तो जैसे वृक्षों का उदात्त-धीर-वीर नायक हो। वह अपने सात्विकपन से वैभव के साथ खड़ा है। सिंहासन पर विराजमान राजा की अपेक्षा उसके सेनापति जैसा अधिक मनचाहा और मनोहर लगता है, वैसे ही अमलतास देखने का मन होता है। तो—

वह गुलमोहर...

यों तो यह अमलतास का ही भाई लगता है। लेकिन यह जग मिजाजी है। ऊंचा तो है ही, साथ में खासा फैला हुआ भी है। यह दूसरे वृक्षों की परवाह नहीं करता। अपनी मस्ती में डूबा रहता है, इसलिए इतना खिला है। मन भरकर प्रसन्न रहना सीखना हो तो गुलमोहर के पास जाना चाहिए। बीते कल तक तो यह भी सो रहे कुंभकर्ण जैसा लगता था। दूसरे वृक्षों के लिए यह दयावान था, लेकिन अभी-अभी तो वह बहुत चिंता में पड़ गया है, छोटे बालक को नाखून लगते ही जैसे आंसू निकल पड़ते हैं, उसी तरह उसमें फूल फूट पड़े हैं। उसके केसरिया वस्त्र तो ऐसे जैसे कोई राजपूत लड़ाई में गया हो। नहीं, अब राजपूत तो भूतकाल के विषय बन गए हैं। मेनका से आकर्षित, अपनी दुर्बलता से कोपायमान हुआ योगी अपने कपड़े फाड़कर चिथड़े-चिथड़े करता जाता था। वह चिथड़े गुलमोहर पर लिपटे लगते। वह योगी तो दुर्वासा हो सकते हैं?

आजकल टी.वी. में 'महाभारत' देखता हूं। अभिमन्यु मारा गया, वह अभिमन्यु किसी कवि का था! वह तो एक निर्माता का आभास लगता था। महाकवि प्रेमानंद ने 'अभिमन्यु आख्यान' में अभिमन्यु को चारण जैसा कहा है। उसकी चारणी जैसी देह से खून बहता है। इसका वर्णन करते हुए कवि कहते हैं कि 'जैसे टेसू खिला हो वन में।' अब जंगल तो नगर के लिए मात्र कल्पना बन गया है। नगर से वृक्षों का वनवास हो गया है। मानवों के हाथ आरी बनकर लंबे हुए हैं। नगर के कम भाग्यशाली लोग उसके वैभव को सुरक्षित रख पाए हों वैसे कहीं-कहीं गुलमोहर देखने को मिलते हैं, तब बचे वैभव को देखा जा सकता है। सात चक्रव्यूह में अकेला अभिमन्यु उलझ गया था, उसी तरह गुलमोहर यहां फंस गया लगा। लेकिन अब—

दो भाइयों जैसे दोनों वृक्ष आमने-सामने खड़े हैं। एक ने पीला वस्त्र धारण किया है तो दूसरे ने गहरा आकर्षक गेरुआ। अमलतास जैसे जैन साधु और गुलमोहर तो कोई मठाधीश संत। एक का स्वभाव शील और दूसरे का तीखा। वृक्ष भी ऐसे बन जाएंगे, इसका कहां पता था? शायद उनकी छाया में आदमी बैठने लगा यह कारण

हो—अमलतास गरमी से लड़-लड़कर झूमते हैं, उसके तप से गुलमोहर सूर्य के सामने आंखें खुली रखकर गरदन ऊंची रखता है। क्षणभर के लिए लगता है कि वृक्षों में अमलतास कोई बौद्ध भिक्षुक होगा और गुलमोहर कोई राजा। बिना इसके उनमें कुछ ऐसे अनोखे-अनोखे गुण न होते।

दोनों के बीच पक्की सड़क है—रजोगुण ओढ़ी हुई। दोनों के मूल एक-दूसरे का स्पर्श न करें, इसका वे ध्यान रखते हैं। वह भी खूब तपते हैं, सूर्य के साथ। नंगे पांव दोनों को स्पर्श नहीं किया जा सकता। यह सड़क रहेगी तब तक सत्य और तमस आमने-सामने खड़े रहकर स्पर्धा करते रहेंगे। जबकि दोनों हैं राजपूत वंश के ही। अपनी शक्ति का प्रमाण देने के लिए राजपूत अपनी तलवार से अपना सिर काट डालते हैं, उसी तरह ये दोनों अधझरे पत्ते पहने खड़े रहते हैं। आने वाले बैशाख तक वे तप करेंगे और वापस मैदान में गिरेंगे।

दूसरे वृक्ष जैसे कंजूस की तरह बैठे रहते हैं। टी.वी. में हंसते पात्रों जैसे वृक्ष कुछ खिले न खिले और फिर जैसे थे वैसे-के-वैसे। टी.वी. की न्यूज-रीडर की तरह चुटकीभर हंस लेना उसने सीखा है। अमलतास और गुलमोहर तो गांव की सीमा पर मिले दो दोस्त की तरह हंस रहे हैं। इतना हास्य, जिस दिन कृष्ण-सुदामा मिले होंगे, उस दिन बिखरा होगा।

दोनों के नीचे बिखरे फूलों को बीनते हुए सड़क से इधर-उधर आ-जा रहा हूं, तब लगता है कि मेरे फूल क्यों नहीं खिलते? भूल की हों तो भी मुझे खिलने का अधिकार क्यों नहीं? आंखों पर चश्मा पहनकर सूर्य की तरफ देखता हूं, तो मंडलों जैसी काली छाया छाई होती है। मेरा और सूर्य का संबंध टूटा लगता है, नहीं तो इन वृक्षों की तरह क्यों नहीं झूम सकता? मुझे बैशाख के सूर्य के साथ का वह संबंध रचना है, लेकिन टूटे तारे जैसा प्रकाश अब नहीं पा सकूंगा या नहीं खिल सकूंगा, इन वृक्षों की तरह—

(*'माटीमां खीलेला मेघधनुष्य'* से)

26

च्यूइंग गम

—नवनिध शुक्ल

—और एक दिन हम तीनों भाई गांव का वह घर—'the house where I was born'—बेच-बाचकर नकदी लेकर शाम की गाड़ी से निकले। छूट गए। कोई नहीं रहता था उस घर में। हर वर्ष खपरैल ठीक कराते, छोटी-बड़ी मरम्मत कराते...कम परेशानी थी? और, ओ हो हो! उस किराएदार ने कम परेशान किया? चलो, सिर का एक बोझ कम हुआ...

लेकिन बोझ सचमुच कम हुआ था क्या? हां, दिमाग का बोझ तो निश्चित घटा था ...लेकिन...हृदय का भार तो उतना ही बढ़ा था। दबाया जा सकने वाला नहीं, बल्कि सांस रुंध जाने वाला भार। आकाश के हृदय में बादलों के भार जैसा। मस्तिष्क और हृदय की ऐसी खींचतान हर-एक देहधारी के भाग्य में लिखी ही होती है! हम तीनों भाई गाड़ी के डिब्बे में चुपचाप बैठे थे। कोई बोल नहीं रहा था, क्योंकि हर-एक शब्द यहां एक साहस था। हम जैसे किसी अपराध-भाव से पीड़ित हो रहे थे। हमने 'घर' बेचा! हम वतन से विच्छिन्न हुए! जीवन के युद्धकांड ने जैसे हमारे 'बाल कांड' को सुलगा दिया! माता-पिता के स्मृति-मंदिर का हमने विक्रय किया!

दोपहर को ही, परिवार के एक वृद्ध ने कटु व्यंग्य किया, "लो, बाप का स्मारक भी उखाड़ डाला!" (Foolish sentimentalism—मूर्खताभरा मनोभाव!) बुद्धि उवाच। वतन से विदा-यात्रा की उस रात्रि का हमारा वह विषाद-योग आज भी उतना ही ताजा है।

उसके बाद तो आठ-दस वर्षों पर मैं वतन में किसी काम-से गया था। दस वर्षों में तो दुनिया कितनी बदल जाती है। रेलवे स्टेशन से पदयात्रा करता, नगर की आकृति और प्रकृति में हुआ परिवर्तन उर्मिलता से निहारता, अपरिचित-अर्धपरिचित चेहरों का अभिज्ञान ढूंढने का प्रयत्न करता, ढलती शाम के समय 'अपनी' सूनी गली में प्रवेश किया।

गली, अर्थात गली। बचपन की वह लीलास्थली। वह संकरी गली। आर्थिक रूप से मध्यम वर्ग की विविध कक्षा की उसकी बस्ती। धूल, जूठा पानी, बरतन, निंदा-कलह, राग-द्वेष, ममता-ममत्व की उसकी आबोहवा। मानव यहां जीवित है—मिठास तथा कटुता और उसकी अवांतर भाव स्थितियों के साथ। गली यानी छोटा संसार। 'किम् अमृतमयः किम् विषमयः?' न जाने।

मुझे देखकर उस सूनी गली में हलचल आई। एक वृद्ध मेरी पगध्वनि सुनकर घर से निकलकर बाहर आए। मुझे पहचान नहीं सके। (नहीं, देखा)। उनकी वृद्ध आंखों के गढ़ों में मृत्यु के बिलाव को घुरकते देखा।

"कौन है?" उन्होंने जम्हाई लेते हुए पूछा। मेरे अंदर इस प्रश्न की प्रतिध्वनि हुई, 'कौन है?' इस प्रश्न की लहर चारों ओर फैली। नए बसे अपरिचित, नौकरी करने वाले परिवार की भार्या, कौतूहल से मुझे देख रही थी : 'कहां से आ रहे हैं? किससे काम है?' हो गया। गली का संसार बदल गया है। मैं यहां उखड़ा हुआ आम का वृक्ष हूं। इस बात की दारुण प्रतीति मुझे हुई। मेरे वतन में, मेरी गली में मैं अनजान आगंतुक हूं।

फिर वापस चहल-पहल शुरू हुई। "कौन जीतुभाई?", "कौन हैं वे?"? "क्या हमारे जयंती काका के जीतुभाई? अहमदाबाद में हैं वे। नहीं पहचाना? आइए, आइए।" और पहचान की लहर घूम गई।

बहुत बदल गया था। पुराने परिवार दूसरे शहरों में जा बसे थे। उनके घरों में नए चेहरे दिखते थे। कितने मकान बंद पड़े थे। पुराने 'खट्टे-मीठे' साथी चले गए थे—रोजी-रोटी के लिए, मेरी तरह दूसरे शहरों में।

चबूतरे पर बिछी जूट की बोरी पर मैं बैठा। हालचाल पूछे गए। उस चबूतरे के पास गली में दो बच्चे मौज-मस्ती कर रहे थे। एक के हाथ में फिरकी थी जो दौड़ने से हवा के कारण घूमती थी। दूसरा मुंह में कुछ चुभलाता हुआ उसके पीछे दौड़ रहा था। वह बोलने लगा—'चिंगम...चिंगम...'(बाद में पता चला कि वह 'च्युइंगम' बोल रहा था)।

तभी कौन जाने क्या चमत्कार हुआ! उस विक्रम राजा वाली बात जैसा ही तो! विक्रम राजा के सिंहासन वाली पहाड़ी पर बैठने वाले उस ग्वाले के लड़के में न्याय करने की कैसी शक्ति आ जाती! मैं भी जैसे उस मेरे चिरपरिचित चबूतरे के स्पर्श से बाहर निकल पड़ा! जांघिया-कमीज पहने, हाथ में लट्टू, लट्टू की तरह घूमता, जन्माष्टमी के मेले में से लिया लाल अबरख का चश्मा पहने, मैंने अपने को उन बालकों के पीछे दौड़ते देखा।

तब दुनिया रंगीन थी। सूर्य पूरा-पूरा प्रकाश देता था। चंद्रमा सौ प्रतिशत चमकता था। रंग पूरे रंगीन थे। आदमी पूरा आदमी था। रात, रात थी; दिन, दिन था। जो वह, वह वही था। जीवन में समझदारी ने प्रवेश नहीं किया था। केवल सहजता का साम्राज्य

था। दादाजी से एकाग्रता के साथ कहानी सुनते शिशु की आंख में जो चमक दिखती होती है, वैसी चमक जैसा चमकता जीवन था। यहां विस्मय का विपुल वेभव था। आंख में भोला आश्चर्य था। हम परियों के साथ खेलते। खाली पड़े उस 'भूतहे' मकान की ऊपर की मंजिल में रहती चुड़ैल हमारी स्वप्न-सृष्टि में साथीदार थी। अभी न ब्याई कुतिया के भावी बच्चे हमारे स्वामित्व का विषय था।

गली का वह समाज भी 'असली' था। बचपन से वैधव्य का बोझ ढोती कितनी निराधार वृद्धाएं भी वहां थीं, तो गौरी-मां को प्रसन्न करती और जागरण के समय गली में धमाचौकड़ी मचाती, चिड़ियों जैसी कुंवारी कन्याएं भी वहां थीं और जिसके साथ न जाने कैसे भी मांगल्य की अपेक्षा कारुण्य का मिथ्या ज्ञान चित्त में विशेष रहा है, घर-काम के बोझ से ऐसे ऊबी गृहणियां भी थीं ही। अच्छी तरह खाकर, बड़ा डकार लेकर काम पर जाता, छुट्टी के दिन जैसे झगड़ता हो, इतनी तेज आवाज में बातें करता और स्त्री-बालकों को बार-बार धमकाता पुरुष वर्ग भी था ही।

गरीबी भी खूब थी उन दिनों। बूढ़ी कंकु मां अकिंचन थीं। घर में खाने का ठिकाना नहीं। देर दोपहर तक किसी पड़ोसी में दया जागे, इसकी राह देखती बैठी रहती। फिर धैर्य समाप्त हो जाता, तो बेचारी घर गिनने निकल पड़ती। कहीं से कुछ खाना मिलता तो कहीं से कुछ हंसी और अपमान भी।

ऐसी ही दूसरी थी संतोक मां। कई बार एक लोटा पानी पीकर झूठा जोर का डकार लेकर मन को और तन को मनाती और किसी को पता नहीं चलने देती। ये दोनों वृद्धाएं तो लोकवाणी द्वारा शब्दकोश में सुरक्षित हो गई हैं।

> 'कंकु कहे संतोक ने,
> सगड़ी खाशुं के देवता?'

(कंकु संतोक से कहती है कि हम अंगीठी खाएंगे या आग?)

इसमें दारिद्रय की विडंबना नहीं थी, कारुण्य की कातिल कैफियत थी। मुझे याद है, मेरी मां उनके यहां रोज कुछ-न-कुछ खाना रख आती। मुझे दन दोनों वृद्धाओं पर बड़ी दया आती।

ऐसा वह समाज था। यहां निंदा-रस महा-रस था। आदमी स्वभाव से काफी मर्यादावाले थे। फिर भी आम तौर पर सीधे स्वभाव के थे। भ्रष्टाचार भी था, लेकिन उसे शिष्टाचार की चादर नहीं ओढ़नी पड़ती थी।

स्त्रियां दिन में पशुओं की तरह काम करतीं, रात में व्रत के दिनों में जागरण करतीं और साधारण दिनों में चिंता करतीं, निंदा करतीं, झगड़े करतीं, अपने जने बच्चों का लालन-पालन करतीं और ताड़न भी करतीं। लड़कों का पालन बहुत लाड़ से होता। लड़कियां कुछ उपेक्षित रहतीं। यह असमान व्यवहार हमें अचूक चुभता। धूली मां एक कहावत बार-बार गातीं—

'सवली मरी गई, माथे धूल वली गई,
छनियो कूटे, पेट, मारी बोनमरी गई।'

(भाई-बहन का कुछ भी नाम रखा जा सकता है)। बहन का मर जाना, सिर पर धूल पड़ना और भाई का विलाप—यह सब मेरे हृदय को वेध डालता। धूली मां ऐसे किसी भाव के बिना, शांत हृदय से (हंसते-हंसते) किसी भी भाई-बहन के नाम के साथ यह कैसे कह पाती होंगी, इस बात का हमें काफी आश्चर्य होता।

ऋतुओं के रंग तब गहरे थे। त्योहारों में ताजगी थी। बचपन की उस निर्वसन दशा में कोई बुराई नहीं थी और न था विकार।

हम सुल्तान थे—होली के फगुहारे बन 'कर' वसूलने की सत्ता रखते।

हम फकीर थे—नवरात्र के दिनों में, रात को, मिट्टी के बरतन हाथ में लेकर घर-घर जाकर तेल-धूपबत्ती के पैसे मांगते और आशीर्वाद देने की शक्ति रखते। हमारा वह राष्ट्रगीत अभी भी याद है—

'घोघा घोघा घोक सलाम,
नाथी बाई ना वीर सलाम,
तावड़ीमां टेटो,
जीवे तमारो बेटो।
तावड़ीमां ठीकरी,
जीवे तमारी दीकरी।
दीकरी-दीकरी दिवाली,
टका नी घाघरी सीवाड़ी।
टको मल्यो टोडले,
जमाई आव्यो ओटले,
ले जमैड़ा, लेतो जा।
ढींका पाटु खातो जा।
तेल दे, धूप दे
बाबा ने बदाम दे,
तेरा बच्चा जीवता रहे।'

—इस तरह तमाम स्वांग करने की हममें पात्रता थी।

यह चबूतरा यानी हम बालकों का चबूतरा। हमारी सभाभूमि, स्वाध्याय भूमि, क्रीड़ा भूमि और कभी युद्धभूमि भी। वह बौड़म, लेकिन जरा मधुर 'गजिया' (बच्चे का नाम), वह बुद्धू, लेकिन माल ढोने वाले जहाज का 'बुधिया', वह नटखट 'नटु', वह भोलाभाला 'भानु', वह पीली-पीली 'पुष्पा', वह शर्मीली 'सवली', हिम्मतवाला 'हरिप्रसाद', हंसानेवाला

'हीरयो', डरावना 'डाह्यला' और लालचटक 'लाभुड़ो'—यही था हमारा समाज। ठंड की सुबह की धूप में यहां पढ़ाई होती। रात में हमारी परिषद भी यहां मिलती। उसमें खेलकूद की योजनाएं बनतीं। हंसी-मजाक की बातें चलतीं, लौकिक-अलौकिक दोनों प्रकार की, गली की और पाठशाला की भी, भूत की और भगवान की भी...।

इसी चबूतरे पर बैठकर चैत्र महीने की दोपहर में वृद्ध रावलजी स्त्री-वर्ग को 'ओखा हरण' पढ़कर सुनाते। वे 'ओखाहरण' के मधुर गीत गाते तब उनके घरघराहट वाले गले से और बिना दांत वाले मुंह से 'कविता-रस' तो नहीं, लेकिन 'जिह्वा-रस' बहता। उड़ता भी।

गली का यह चबूतरा हम बच्चों के लिए आम की रस-भरी गुठली ही थी। बहुत चूसी है।

हां, तो उस चबूतरे पर से...सामने ही दिखता हमारा मकान...

अब 'हमारा' कहां?...(और फिर भी 'हमारा' क्यों नहीं?—इसका जवाब किसी के पास है? मेरी यह ममता का अधिकार जन्मसिद्ध है, भले द्रव्यसिद्ध न रहा।)

'हमारे' उस मकान का दीदार बदल गया था। दरवाजे पर सुंदर रंग चढ़ा था। (उस पर उसके नए मालिक की नेमप्लेट लटकती थी) यह दरवाज़ा यूं जीवन के किसी शुभाशुभ का साक्ष्य देता है।

> 'जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे।
> मातृमिश्चन्त्यमानानाम् ते हि नो दिवसा ग़ताः।।'

मैंने भवभूति के राम की भावदशा को समझा। पिताजी की छत्रछाया तब सिर पर थी। मां हमारे कल्याण की अहर्निश चिंता करती थीं। ऐसे सुखद समय विवाह के लिए उद्यत 'मैं' की वरयात्रा इस द्वार से निकल रही थी। बाहर बैंड बज रहा था। दरवाजे की चौखट पर 'लाभ' और 'शुभ' लाल रंग से मुखरित थे। और विवाह के बाद वापस लौटे तब मां ने यहीं ही हमारी 'परछन' की थी। 'ते हि नो दिवसा गताः।' उस रामभद्र के निःश्वास की प्रतिध्वनि त्रेता और कलियुग को जैसे जोड़ रही थी।

और मेरी वरयात्रा जहां से निकली थी, वहीं से एक शाम पिताजी की शवयात्रा निकली और हमारी जीवनकथा का एक अध्याय पूरा हुआ। शेष तो अभी बहुत है। लेकिन हमारे उन दिनों के आक्रंद की प्रतिध्वनि अभी गायब नहीं हुई है।

. .

वहां वे दोनों बालक 'च्यूइंगम' के लिए झगड़ते-रोते आ पहुंचे। दोनों उग्र थे। 'मेरी च्यूइंगम इसने ले ली।' 'मैंने नहीं ली।' 'तो किसने ली?' 'मुझे क्या पता?' ऊबकर मां ने बड़े बेटे की पीठ पर एक धबाका लगाया। (इस गली में अभी ताड़नयुग समाप्त नहीं हुआ था) उसका रोना दूना हो गया। मां की प्रबल डांट से दोनों भाग खड़े हुए।

कहां गया मेरा बचपन? आज मेरी युवावस्था उसे ढूंढती है! कल मेरा वार्धक्य,

दलपतराम की वृद्धा की तरह, नीचे झुककर युवावस्था को ढूंढेगा...जैसे वह बालक अपने 'च्यूइंगम' को ढूंढता था। और इस शोध का क्लेश कम हो-न हो, वहां तो काल की मार पड़ेगी और शोध-बोध-क्रोध सब समाप्त होगा? नहीं। मृत्यु वापस लौटकर जीवन को ढूंढेगी और पुनः जीवन मृत्यु को। एक-दूसरे के 'च्यूइंगम' को।

(*च्यूइंगम*' से)

27

यह किसका वाद्य होगा?

—कुंदनिका कापड़िया

पवन का गीत सुना था। सरु (एक पेड़) के वन में से या बांस के वन में से बहता पवन कुछ गाता जाता हो, कुछ बजाता जाता हो, वह संगीत सुना था। लेकिन अब यहां नंदिग्राम में पवन की जो आवाज है, उसे गीत की संज्ञा किसी तरह भी नहीं दी जा सकती। यह तो घहराने की आवाज है, गर्जना है, कभी कड़ाका-धड़ाका और दहाड़ है। क्रोधित सर्प की तरह वह फुफकार मारता है। बंद खिड़की-दरवाजों को तोड़ डालना चाहता हो, इस तरह सांगोपांग हचमचा देता है। इस पवन के बीच खड़े रहने का साहस नहीं होता। खड़े हों तो सामने दिशा में एक कदम भी बढ़ने नहीं देगा, इतना प्रचंड इसका वेग है।

बैशाख से पहले, यही पवन धीरे-धीरे, हल्के-हल्के, हर्ष से मुस्कुराता पत्तों में सीटी बजाता और वृक्षों के झुरमुट में गुंजन करता था। फूलों के साथ उसकी दोस्ती थी। सिलोनी पोर्टुलका के पीले चमकदार फूलों पर आ बैठते असंख्य पक्षियों के साथ वह हाथ में हाथ लेकर—या पंखों से पंख मिलाकर जैसे उड़ रहा था। हमें स्पर्श करता तो भी एकदम धीरे से, मधुरता से, बालों की एकाध लट लहराकर या साड़ी का आंचल थोड़ा-बहुत उड़ाकर अपनी उपस्थिति की प्रतीति कराता था। यहां छोटे गांव में, बार-बार बिजली चली जाती, इसलिए छोटी मोमबत्ती जलाकर रखते। अकारण उसकी हल्की ज्योति को भी वह पवन सहज नहीं छोड़ता था।

फिर किसे पता, क्या हुआ? पृथ्वी ने पासा पलटा या ऋतु की रानी तूफानी घोड़ों पर सवार होकर वेगपूर्वक चारों दिशाओं में घूम आई। पवन एकाएक पागल बन गया। 'ब्यूटीफुल पीपल' फिल्म में जंगल के प्राणियों को बिजली जैसी तेजी से दौड़ते देखा था। यह पवन भी जैसे अफ्रीका के उन प्राणियों का स्पर्श करके आया हो, उनकी खूंखार तेजी को चखकर आया हो—इस तरह किसी लापरवाह बादशाह की तरह चारों तरफ अपने नशीले घोड़े दौड़ाता आया। सुबह अभी कुछ सौम्य रहती। लेकिन सूरज जरा ऊपर

चढ़ता कि बस, कूड़े भरे दिमाग की तरह उसकी हा-हा, हू-हू शुरू हो जाती। एक के बाद एक, फिर और एक, उसके प्रचंड झोंके थप्पड़ लगाते, बस टकराया ही करते थे—धरती के साथ, वृक्षों के साथ, मकानों के साथ, आदमियों के साथ। पवन के साथ सुगंध आती। इसीलिए तो पवन का एक नाम गंधवाह है। लेकिन बैशाख के इस पवन में गंध या सुगंध नहीं थी। यह तो काल बैशाखी का कोप था। उन्मत्त बनकर वह गर्जना करता था। आंखें बंद करें तो लगता कि समुद्र की गर्जना है। पवन का यह समुद्र ही था। और वह भी मस्ती में आया समुद्र। यह पवन यदि पानी होता तो हम सब उसमें डूब गए होते। घर में एक भी वस्तु ठिकाने नहीं रह सकती थी। पत्रों, अखबारों और पुस्तकों की तो अपनी जगह पर स्थिर होकर रहने की बिसात ही नहीं। लेकिन टांड पर से कपड़े उड़ते थे। पनिहारों पर से प्याले नीचे उड़कर गिर पड़ते थे। कुर्सी पर के आसन उड़ जाते थे। प्यालों के किनारे से चाय भी छलक जाती थी। छोटी-छोटी वस्तुएं चकई-फिरकनी की तरह घूमती थीं। नए रोपे सभी पौधे झुक गए थे। उन्हें लकड़ी गाड़कर सीधा कर डोरी से बांधा, लेकिन पवन को वह भी मंजूर न था। लकड़ी और डोरी को जड़ से उखाड़ फेंकने का वह प्रयत्न करता था। स्थिर खड़ी हर एक वस्तु पर उसे अपना डंडा पछाड़ना था। उसे सब कुछ गतिमान कर देना था। गति के समुद्र में बलपूर्वक सब बहा देना था।

पवन का ऐसा रौद्र रूप कभी देखा था। बहुत साल पहले दूर देश के, समुद्र में घुसे एक भूमिखंड के छोर पर स्थित दीप-मीनार की छठी मंजिल पर चढ़ी थी। छठी मंजिल पर झरोखों से चारों तरफ का दृश्य देखने बाहर निकली तो सरसराते पवन ने आकर क्या जोरदार धक्का मारा था उस दिन! पूरी शक्ति जुटाई फिर भी एक कदम आगे नहीं बढ़ाया जा सका। हिन्द महासागर और दक्षिण महासागर के उस संगम-स्थल पर पवन का राक्षसी जोर अनुभव किया था। यहां के इस जोरदार बैशाखी पवन को, 'बैशाखी बयार' जैसा काव्यात्मक नाम दिया जा सके, ऐसा नहीं था। यह तो काल का कराल रूप था।

फिर एक दिन वह आया था, वैसा ही चला गया। उसके पीछे आया ज्येष्ठ मास का सूर्य। गरमी का एक बड़ा झोंका आया। धरती जलने लगी। धरती में फाट और दरारें पड़ीं। वृक्षों को चाहे जितना पानी पिलाते; दूसरे ही क्षण वह प्यासे-के-प्यासे। ऋतुओं का ऐसा प्रबल रूप शहर में देखा नहीं था। शहर में तो सभी ऋतुओं पर स्टीम-रोलर फिरा दिया जाता है। पंखा, ठंडा, पेय, एयरकंडीशनर और विलासी वस्तुओं की विस्मृति गर्मी के रूप को, किसी भी ऋतु के रूप को फीका कर देते। यहां विशाल मैदान में चारों कोने आग बरसती। यहां पंखा नहीं है, परदे नहीं हैं, खुली धरती पर, खुला आकाश, बीच में खुली खिड़कियों वाला छोटा मकान। यहां मैदान, घर का ही भाग लगता है। मैदान की आग घर के आरपार निकल जाती है। यहां सुबह-शाम-रात, अंधेरा और सूर्योदय, आकाश और विस्तीर्ण दिशाएं, तारे और ज्योत्स्नामय वृक्ष, पवन और ताप—सबको सघन रूप में अनुभव किया जा सकता है।

बांसुरी में से स्वर बनकर निकलता पवन, इन पत्ते-पत्तों को वेध डालता, बांस के जंगलों को उजाड़ डालता पवन—दोनों के मूल में एक ही तत्व है, ऐसा मानना कठिन लगता है। गूढ़दर्शी कवि विलियम ब्लेक ने प्रश्न पूछा : 'जिसने नरम भेड़ को बनाया है उसने ही क्या जंगल के सुलगती आंख वाले बाघ को भी बनाया है?' नरसिंह मेहता याद आते हैं—'पवन तुम, पानी तुम, भूमि तुम...' अंत में तो हेम का हेम। अंत में एक ही तत्व। एक तत्व का ही यह सारा प्रसार। इस प्रसार की अनुभूति द्वारा इस एक की अनुभूति हो तो कितना अच्छा!

और फिर याद आता है शेली का 'ओड टू वेस्ट विंड।'

पश्चिम के उन्मत्त पवन को ध्यान में रखकर रचा गया वह काव्य, ऐसी पवन भरी रात में कभी-कभी पढ़ने जैसा है। उसकी वह प्रसिद्ध पंक्ति—

'मने ऊंचकी लो एक मोजांनी जेम,
एक पर्णनी जेम, एक बादल नी जेम,
जिंदगीना कांटा पर हुं पटकाऊं छुं
लोहीलुहाण थाऊं छुं...'

शेली का काव्य आज कोई पढ़ता होगा? जंगल को उसने पवन का वाद्य कहा था। लेकिन यह गरजता, घहराता, धावा बोलता, दहाड़ मारता पवन, स्वयं किसका वाद्य है?

('चंद्र-तारा-वृक्ष-बादल' से)

28

'ळ' किसी का नहीं

—पन्ना अध्वर्यु

एक बार मुझे किसी प्राध्यापक ने सापेक्षता समझाई थी—जब गाड़ी आती है तब स्टेशन पर खड़े लोग कहते हैं कि गाड़ी आई, गाड़ी आई; लेकिन उसी परिस्थिति में, गाड़ी पर बैठे लोग कहते हैं कि 'स्टेशन आया, स्टेशन आया।' आईन्स्टाइन स्वयं शायद इस तरह सापेक्षता न समझाते हों, परंतु मुझे तो परिस्थिति की सापेक्षता प्राध्यापक द्वारा दिए उदाहरण से अच्छी तरह समझ में आ गई।

परिस्थिति का आकलन जैसे सापेक्षता के सिद्धांत पर आधारित है उसी तरह सौंदर्य का सही स्थान देखनेवाले की नजर में है, यह बात भी मुझे थोड़े दिनों में समझ में आ गई। मेरी आफिस की एक बेहद कुरूप स्त्री ने प्रेम-विवाह किया था, इतना ही नहीं, विवाह करने के दो वर्ष बाद एक नए प्रेमी के साथ भाग भी गई। उस दिन सौंदर्य की सापेक्षता स्पष्ट हो गई।

मैंने लिखा पीपल के पत्तों की 'सळ-सळ', लेकिन जब वह पीपल के पत्तों की 'सम-सम' छपा, उस दिन मुझे आवाज की सापेक्षता समझ में आई। मुझे पीपल के पत्ते जरा-जरा हिलते सुनाई देते, किसी दूसरे को सनसनाते सुनाई देते, सही आवाज शायद 'सड़-सड़' हो और पीपल के नीचे रोज बैठता चरवाहा कहेगा : 'पीपल के पत्तों की भला कोई आवाज होती होगी? मेहरबानी करके हंसाएं नहीं, भाई साब!'

हमारी नजरों में शाश्वत और ध्रुव लगती सारी वस्तुएं शायद सापेक्ष ही होंगी! सौंदर्य का, स्वाद का, ध्वनि का, सुगंध का, स्पर्श का, परिस्थिति का—सबका स्थान, उसका अनुभव करता मन ही है। इन सभी वस्तुओं का निजी गुण-धर्म चाहे जो हो, शब्दों का भी यही हाल है—हर-एक शब्द का मेरे मन में जो अर्थ होता है, वह शायद आपके मन में न भी हो! (तो फिर मैं आपके साथ साहित्य द्वारा संवाद किस प्रकार कर सकती हूं? यह भी एक भ्रम ही है! किसने कहा कि मैं आपके साथ संवाद कर रही हूं? दो छायाएं, एक दूसरे को ऊपर-ऊपर से टटोल रही हैं!)

खैर, वह चाहे जो हो, मेरा लिखा 'ळ' 'म' जैसा लगता है, यह बात शायद सच हो तो भी, 'सळ-सळ' के संबंध में हुई यह भूल मुझे कचोट रही है। 'ळ' मेरे हिसाब से सबसे अधिक उपेक्षित है, फिर भी सबसे अधिक प्रभावशाली मूलाक्षर है। यह मेरा बहुत प्रिय मूलाक्षर है। (फिर भी मैं उसे ठीक से लिख नहीं सकती—क्यों? उसमें गुंथी भावनाएं या दूसरा कुछ?)

'ळ' का और मेरा प्रथम परिचय वर्णमाला के रंगीन चार्ट में, बालपोथी के वर्ग में हुआ था। उस चार्ट की अंतिम लाइन में, भड़भड़ाती अग्नि-ज्वालाओं वाले हवन के 'ह' और एक मूंछोंवाले, तीर कमानवाले क्षत्रिय के 'क्ष' के बीच छिपकर बैठा बिना मित्रवाला 'ळ' बहुत ही दयालु लगता था। हमारे शिक्षक ने जब इस अक्षर पर रूल रखकर 'ळ' किसी का नहीं, यह रटाया तब तो मुझे बहुत ही बुरा लगा।

आज जब विचार करती हूं तब लगता है कि ऐसे तो 'ङ' और 'ण' भी किसी के नहीं थे। वह बोलते समय बुरा न लगा और मात्र 'ळ' की तरफ ही पक्षपात होने का कारण क्या था? एक तो उसका स्थान था। यज्ञवेदी (हवन) और धनुष-बाण के साथ के क्षत्रिय के चित्र के बीच आया 'ळ' उस यज्ञवेदी में से जन्मा, किसी ब्राह्मण कन्या और क्षत्रिय कुमार के बीच के संबंध का फल जैसा कोई शापित राजकुमार लगता है। वह बेचारा आगे भागे तो लाल-पीली अग्नि-ज्वाला और पीछे निशान ताकता क्षत्रिय—दोनों के डर से दुहरा हुआ वह, दुम उठाकर भागता नहीं लगता?

उसके प्रति पक्षपात का दूसरा कारण उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है। बाल कहानी में आती तीसरी राजकुमारी जैसा वह स्वावलंबी है, बाप की कमाई खानेवाला नहीं। 'ङ' बना है 'ड' से और 'ण' बना है 'ग' से (मात्र वाह्य आकार की बात है।) किंतु 'ळ' का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। भले वह किसी का नहीं होगा, झुका हो, ढला हो, पूंछ उठाकर भागा हुआ हो, सबके द्वारा तिरस्कृत होकर निकाले हुए अनाथ बालक की तरह हाथ-पैर समेटकर बैठा हो, लेकिन यह किसी के जैसा नहीं, उसे किसी से बनाया नहीं जाता, वह स्वतंत्र मिजाज का है, किसी की मदद के बिना खड़ा है—एकाकी, अकेला, स्वमानी!

वर्णाक्षर माला में उसे चित्र से वंचित रखा गया और उसके प्रति अन्याय हुआ, स्कूल में उसे अंतिम पंक्ति में बैठाया गया और 'किसी का नहीं' कहकर उसे अपमानित किया गया, लेकिन उच्चारण में उसके प्रति होता अन्याय तो उससे भी अधिक भयंकर है। अंतिम पंक्ति में जब-जब 'ळ' का 'ल' बनाने को कहा जाता तब मेरा मन विद्रोह कर उठता। (वह बेचारा किसी का नहीं, इसलिए ही उसकी इतनी उपेक्षा होती है। इस ख्याल से मेरा मन द्रवित हो उठा!) काले, सुंदर, रेशमी 'बाल, को कोई दुर्गंधवाला 'बाल', बना दे तब तो बहुत चिढ़ होती। ऊंचे-ऊंचे आकाश को छूते बहुमंजिले मकानों को कोई एक मंजिलवाला मकान कहे तब उसे उस 'मंजिल' पर से ढकेल देने की भी इच्छा हो आती

है। सुलझने की क्रिया जब 'सुलझ' जाए या गंदी 'गाली' जब गुलाबी 'गाल' बन जाए, तब मेरा मन त्राहिमाम पुकार उठता। आखिर में पीछे बैठाए उस उपेक्षित अक्षर को धीमे से ढकेलकर, उसका लोप कर डालने का यह प्रयत्न 'ळ' का नामोनिशान मिटा देने की कोई जानी-समझी साजिश जैसा लगता है।

यह साजिश कितनी ही भाषाओं में सफल हुई है। हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी में 'ळ' उच्चारण है ही नहीं—विश्व की एक महत्व की भाषा अंग्रेजी में भी 'ळ' का लोप हुआ है। जो-जो कठिन हो, उसका त्याग करने की भावना के कारण ऐसा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। छोटी-छोटी भाषाएं अभी 'ळ' के सौंदर्य को सहेज रही हैं (शायद इसी कारण वह विश्व भाषा नहीं बन सकतीं।) किंतु 'ळ' के लोप के कारण वे भाषाएं कितनी असरकारक और प्रभावशाली शब्दों से वंचित रह गई हैं, यह तो दोनों भाषाओं के विद्वान ही जान सके हैं!

बिजली की चमक, रोशनी की झकाझक, पानी की लहर (तरंग), हलाहल विष, बिना पानी की छटपटाहट—इन सारे शबदों में 'ळ' को दोहराने से जो सौंदर्यस्थान उत्पन्न हुए हैं उसे समझाने की जरूरत है? इन सब शब्दों के बिना, 'ळ' के बिना भाषाएं कितनी सूनी-सूनी बन जाती होंगी, इसकी कल्पना कर सकते हैं?

लेकिन पहले जो सापेक्षता की बात की, उसके संदर्भ में इतना कहना आश्वश्यक है कि एकाध शब्द पढ़कर, लिखकर या उसका बारंबार प्रयोग करके भी उस शब्द की विभावना कभी पकड़ी नहीं जाती। इसके लिए कितने विशिष्ट अनुभव से गुजरना पड़ता है। 'झलांहलातेज'—यह शब्द मैंने बहुत बार पढ़ा था, लिखा भी था। 'झलांहलांतेज' अर्थात क्या, यह मैं समझ नहीं सकी थी। पिछले वर्ष कन्याकुमारी के मंदिर में मेरा और उस 'झलांहलांतेज' का सामना हो गया!

शाम के समय, सूर्यास्त के बाद, जब मंदिर के पीछे के भाग में तीन-तीन समुद्रों के ज्वार मदमस्त हाथी की तरह चिंघाड़ रहे थे, तब मैं उस मनुष्यरहित मंदिर के अंदर घुसी। मंदिर के गर्भद्वार में शांत दीए की ज्योति में चमकती वह सफेद मूर्ति देखते-देखते तो विराट बन गई! तेज की एक पूरी चमक उस मूर्ति की आंखों में से निकली और आस-पास के परिसर को तथा मेरे मन को आलोकित करती रही! मैं स्तब्ध बनकर उस मूर्ति के सामने स्थिर हो गई और मूर्ति से निकले तेज की लहरों ने आगे बढ़ते-बढ़ते मुझे सिर तक डुबोना शुरू किया। वह तेज, तप्त पीला नहीं था। चांदनी के समान शीतल और नीले आकाश के समान भूरा था। उस कुमारी कन्या की नाक की नथनी में जड़े हीरे से निकलता तेज जब मैंने देखा, उसी दिन मैं 'झलांहलांतेज' का सही अर्थ समझ सकी!

इसी तरह, पीपल के पत्ते की सळसळ-सळसळ एक अनुभव की चीज है। गांव में, गरमी की दोपहर में जब आकाश लू बरसाता होता है, गांव के धूलभरे रास्ते पर पांव रखें तो पांव के तलुओं के जल जाने का भय होता है। मनुष्य और पशु-पक्षी जब चुपचाप

गरमी का यह सितम सहते होते हैं, तब छैल-छबीला पवन, गरम धूल को छेड़कर उसकी ओढ़नी उड़ा जाता है, फिर पीपल के पास रुकता है! तालाब के किनारे झोंका खाते सुस्त पीपल को वह मस्ती से झकझोर देता और हर पत्ते के कान में गुनगुनाता—'आज तो तुम्हें नहीं ही सोने दूंगा।' पवन का उत्साह पत्तों में फैल जाता और पत्ते अंगड़ाई लेकर डोल उठते, 'भले, भले।' यह जो आवाज होती, वही थी पीपल के पत्तों की सळसळ-सळसळ।

मुझे ऐसा लगता है कि 'ळ' एक प्रकार के मोड़ का, एक स्पंदन का, हिलने-डोलने का, एक सतत होती गति का सूचक है—खासकर जब वह दुहरा होता है तब! इसी कारण 'सळ-सळ' शब्द के साथ हिलने-डोलने की तरंग उठती है! शरीर से कसकर पहनी रेशमी साड़ी जब पुष्ट उठावों के साथ लहराती है, तब उसमें से उपजती रेशमी सळसळ हो या सूखे घास में से सरसराकर चले गए सर्प के भय से कांपती घास में से उत्पन्न होती सळसळ हो, यौवन के सोपान पर पांव रखने के साथ ही प्रियतमा के प्रथम स्पर्श से, उदर की फांक से गाल तक चले जाते गरम-गरम रक्त-प्रवाह की सळसळ हो—जीवन के किसी मोड़ पर हमसे मिलती यह सळसळ 'ळ' के बिना इतनी सुंदर बन पाती?

('खोबो भरी ने उजास' से)

29

अपनी-अपनी बरसात

—*वीनेश अंताणी*

बरसात के लिए मेरी प्रथम प्रतिक्रिया मुग्धता की है और फिर तुरंत ही विषाद की है। अतिशय आनंद का, चुभन भरे विषाद का भी अनुभव किया जा सकता है। बरसात के साथ एकदम बचपन की राह देखने का अनुभव जुड़ा हुआ है। बरसात ऐसी प्रियजन है जो बहुत प्रतीक्षा करवाती है, पर आती नहीं। बरसात का मौसम बीत जाए तब तक सूखी नजरों से मैंने बरसात की प्रतीक्षा की है। बरसात के दिनों में स्कूल जाने के समय मन-ही-मन शर्त लगाई होती कि शाम को छुट्टी होगी तब जोरदार बरसात रहेगी और भीगता-भीगता घर जाऊंगा, लेकिन धूप ही बरसती होती।

यह सब कच्छ में हुआ था। इसलिए तो मुझे लगता है कि मुंबई की बरसात मेरी बरसात नहीं है। मेरी बरसात तो दूर कच्छ के आकाश में आशा की तरह घिरी हुई है, फिर भी बरसती नहीं। मुंबई में तो बिना मांगे आकाश पिघलने लगता है। बहुत आर्द्र मन है यहां के आकाश का! लेकिन आकाश को ढूंढ़ना पड़ता है। रात में भी आकाश दिखता नहीं। अभाव तो मुंबई में भी है, लेकिन वह अभाव बरसात का नहीं, आकाश का है, जबकि कच्छ में तो चारों तरफ आकाश और आकाश ही है।

कुछ दिनों तक रेत के साथ गरम लू बहती है। चमड़ी झुलस जाए, फिर बरसात के महीने शुरू होते और आंखों में लकीरें पड़ जातीं। शाम होती, दिशाओं में संध्या के रंग फैल जाते। कभी मेघवाले बादल का स्वर्णरंगी किनारा प्रकाशित हो उठता। आकाश इतना बड़ा मेघ धनुष बन जाता, लेकिन समूचा दिन यों ही कोरा बीत जाता। बरसात होती नहीं, मात्र खाली आकाश रहता।

फिर एकाध बार एकाएक हवा बदलती, आकाश घिरता तभी पक्षी भी बोलते। इस वृक्ष पर से उस वृक्ष पर उड़ते। मोर के बोलने की आवज सुनाई देती। वातावरण में अपेक्षाओं की निःस्तब्धता घिरती। दूर किसी प्रदेश में हुई बरसात की सुगंध आ जाती। चिड़ियां धूल में नहातीं। टिटहरी खाली तालाब में अंडे देती। बादल भी घिरते। हम छत

पर खड़े होते। नालियों की मरम्मत हो गई होती। खपरैल राह देखते होते। बबूल, पीलू (एक पेड़) और सेंहड़ श्वास रोककर खड़े होते, लेकिन बरसात आती नहीं। जरा-जरा-से घिरकर बादल वापस चले जाते। फिर धूप। हमारे घर के खपरैल प्यासे रहते। आस-पास के प्रदेशों में बरसात हुई है, यह समाचार मिलते, लेकिन हम उसकी प्रतीक्षा करते रहते। सावन के मेले निकट आते जाते थे, लेकिन जहां मेले लगने को होते उन स्थलों के तालाब अभी खाली थी। धरती में फटान आ गई होती।

नहीं आती। कच्छ में जिसे धरती की लाड़ली बेटी कहा जाता है वह बरसात नहीं आती। हमारी आंखों में खून उतर आता है। फिर लोग कहने लगते कि बरसात को किसी ने बांध रखा है। सचमुच, ऐसा लगता जैसे किसी मंत्र-तंत्र वाले ने बरसात को बांध रखा है।

फिर एकाएक बरसात शुरू हो जाती। मैदान के आकाश को पार करती, देर-अबेर वह दिखती। पहला छींटा मेरा स्वामित्व। तप्त रेत में फक करता छींटा पड़ता। कुछ धूल उड़ती और पहला छींटा सूख जाता। फिर तो एक के बाद एक छींटा पड़ता और मन होता तो दिल खोलकर बरसात होने लगती। पूरा गांव आकाश के नीचे। सब कुछ छोड़कर लोग बरसात में भीगने बाहर आ जाते। उसके क्षण-क्षण को भरपूर पा लेने के लिए हथेली फैलाकर खड़े रहते। खुली आंखों, खुले होंठों में, शरीर के अणु-अणु में उसे पा लेने की ललक होती रहती। नालियों से सरकती पानी की धार नीचे रखे बरतनों में तालबद्ध रूप से पड़ती रहती। घर की खपरैलों का रंग बदलने लगता। हमारी जमीन का मिजाज पलट जाता। छज्जे के नीचे बैठे पंडुक (कबूतर की तरह का एक प्रसिद्ध पक्षी) और कबूतर पंख फड़फड़ा उठते। प्रेमी प्रियतम जैसी कच्छ की बरसात बाहर से और अंदर से भिगो जाती। रात में बरसती तो भी जागते होते। घर के पीछे पड़ी लोहे की चादरों पर नाली से गिरते पानी की आवाज सुनाई देती रहती। दीवारों में नमी आ जाती। सब प्यारा-प्यारा लगता। दृश्य पहले अस्पष्ट होते, फिर धुलकर साफ हो जाते।

और मन में विषाद जागता। हमारे अधूरेपन को आकार देती हो वैसे क्षण-दो क्षण के मेहमान जैसी बरसात वापस चली जाती और मैदान में खो जाती, लेकिन निशानी छोड़ जाती। स्मृतियों की तरह मेरे मन में चुपचाप बस जाती। धरती में से फूट पड़ती। थोड़े-बहुत भरे तालाबों में पानी फैला रहता। आवाज बदल जाती। वृक्षों में हरियाली का आभास होता। हम मस्त, इतने तो संतोषी कि पूरी बरसात पा लेने का भाव होता। भले थोड़ी हुई, लेकिन हुई तो सही।

अकाल के कठिन दिन बिताकर मालधारी (सौराष्ट्र में अहीरों की एक जाति) अपने पशुओं के साथ वापस लौट रहे हों तब उनकी खुली छातियों में घर पहुंचने की जल्दी होती है। फिर गांव में रहने के दिन आ जाते। तार वाले तंबूरे बजाने के दिन आ जाते। बिरहा गाने की रातें वापस आ जातीं। सब कुछ बुलंद बन जाता, फिर भी अंदर कुछ तो

खटका रहता। जिसे पूरा-पूरा पाया नहीं जा सका, लेकिन जितना मिला उतना अपना हुआ, ऐसे विषाद भरे स्वरों में घुटता आनंद अंत में तो पीड़ा ही उत्पन्न करता। भीतों पर निकल आई नमी में नाखून से बरसात का नाम लिखने की सोचता, तभी याद आता कि उसने तो मुझे कुछ कहा ही नहीं। एक शब्द भी नहीं बोली। मेरी बरसात मेरे साथ!

फिर भी कुछ पाया हो, यह भाव जीने का बल देता। उमंग के साथ मेले लगते। छिछले रह गए तालाबों में प्रतिबिंब स्पष्ट होने लगते। आने वाली ग्रीष्म की तेज धूप को हवा में उड़ती रेत धुंधली बना देती, तब तक मन में संचित रखी बरसात की एक-एक बूंद क्षण-क्षण अंदर बरसती रहती।

लेकिन यह तो मेरे कच्छ की बरसात थी! वह छतों पर नहीं बरसती, बंद खिड़की-दरवाजों के बाहर नहीं बरसती। एकदम अंदर आ जाती है। बरस लेने पर भी फिर बरसती रहती, स्मृतियों में, फटी चमड़ी के छिद्रों में, हमारी आंखों में और दहकनी गरमी में। विषाद के झोंके आते। दूर चले गए या आकाश में खो गए चेहरे नालियों की तरह टपका करते।

मेरी बरसात सब एकाकार कर देती। उसमें कुछ अलग नहीं रहता। सब कुछ समीप आ जाता। स्पर्श तथा आवाज में भी नई सुगंध भर जाती। मेरी बरसात देशी नालियों पर बरसती। वह ऊंचे बहुमंजिले मकानों पर नहीं बरसती। पास के रेलवे स्टेशनों के छाजन पर सिर नहीं पछाड़ती। विशाल सड़कों पर दौड़ नहीं पड़ती। वह तो अंदर उतरती—अंदर...

जो अंदर है वह मेरी बरसात है। मेरी बरसात आपकी बरसात नहीं और आपकी बरसात मेरी बरसात नहीं। क्योंकि हो रही बरसात में हमें जो याद आने वाले हैं, वह चेहरे अलग हैं और वे आंखें अलग हैं। मेरी और आपकी दीवारों पर जो काई जम गई है वह भी अलग-अलग है।

मुंबई में बरसने वाली बरसात की झड़ी में मैं अपनी बरसात ढूंढ़ने की कोशिश करूंगा, लेकिन मुंबई की बरसात में से पर्वतों की घाटी की सुगंध आएगी। मेरी बरसात तो मैदान की गंध लाती है। पर्वतों की घाटी पर से उतर आती बरसात मैदान को पारकर आई बरसात नहीं होती।

('पोतपोतानो बरसाद' से)

लेखक परिचय

1. **काकासाहब कालेलकर** (1885-1981)

दत्तात्रेय बालकृष्ण, गांधीयुग के अग्रणी साहित्यकार और शिक्षाशास्त्री। संस्कृति, शिक्षा, साहित्य, जीवन आदि अनेक विषयों पर उन्होंने चिंतन-मनन किया है। यात्रा, डायरी, आत्मचरित्र, जीवनचरित्र, निबंध आदि विविध गद्य विधाओं में उनकी देन रही है। ललित निबंध के क्षेत्र में उनकी देन से उनकी विशेष पहचान बनी है। 'ओतराती दीवालों', 'जीवन नो आनंद', 'जीवनलीला' आदि अनेक संग्रहों में व्यक्तित्व से मुद्रित, काव्योपम गद्य द्वारा उन्होंने अपने विस्मय और मौग्ध्य का विस्तार किया है। गुजराती ललित निबंध की पूर्ण रूप से शुरुआत इन्हीं से होती है।

2. **स्वामी आनंद** (1887-1976)

दवे हिम्मतलाल रामचंद्र का गांधीवादी लेखकों में एक महत्वपूर्ण स्थान है। धर्म, समाज और जीवन के विषय में व्यापक चिंतन करने वाले स्वामी ने चिंतनात्मक निबंधों के साथ कुछ सुंदर चरित्रात्मक निबंध भी लिखे हैं। 'मानवतानां वेरी', 'अनंतकला', 'धरतीनुं लूण', 'नघरोल' आदि उनके महत्वपूर्ण विचारात्मक निबंध संग्रह हैं। इनका भावभरा, ग्रामीण, आरूढ़ गद्य गुजराती गद्य में नई छाप रखता है। उसके गद्य में कभी हृदय बोल उठता है। उनके हाथों 'मछुआरा नृत्य' जैसे श्रेष्ठ ललित निबंध की रचना हुई है।

3. **रामनारायण विश्वनाथ पाठक** (1887-1955)

मुख्य रूप से समीक्षा, कहानी, कविता, निबंध, पिंगल क्षेत्र को इनकी देन रही है। 'स्वैरविहारी' उपनाम से निबंध लिखने वाले इस लेखक ने गांधीयुग में विषय और निरूपण—इन दोनों तरह से निर्बंध होकर साहित्य, समाज, धर्म, राजनीति, शिक्षा, मानवप्रकृति के विषय में विहार किया है। सूक्ष्म संवेदनशीलता के साथ तीक्ष्ण बुद्धिमता के संमिश्रणवाली अपनी रचनाओं में कटाक्ष-व्यंग्य का आधार लेकर अनेक मानवलीलाओं को वे विद्यमान रखते हैं। शुद्ध ललित निबंध कहे जाने लायक रचनाएं उनके साहित्य में नहीं के समान हैं, लेकिन निबंध में स्वैरविहार

उनका विशेष लक्षण है। यह बात पहली बार उन्होंने सिद्ध की, अपनी कृति 'फोटो पाडवा विशे' में।

4. **विनोदिनी रमणभाई नीलकंठ** (1907-1987)
निबंधकार, उपन्यासकार, कहानीकार और बालसाहित्य लेखिका। निबंध के क्षेत्र में उनकी देन ध्यान आकर्षित करती है। 'रसद्वार' तथा 'निजानंद' आदि में उन्होंने प्रवास या प्रकृति को निमित्त बनाकर कितने ही सुंदर निबंध लिखे हैं। 'वसंतावतार' में वसंत का रसप्रद चित्रण हुआ है।

5. **उमाशंकर जेठालाल जोशी** (1911-1988)
गांधीयुग के प्रमुख सर्जक। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, समीक्षा, संशोधन, संपादन, अनुवाद—इस तरह साहित्य की विविध विधाओं में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 'गोष्ठी' उनके ललित निबंधों का विशिष्ट संग्रह है। यह शीर्षक बताता है कि उन्होंने ललित निबंध में गोष्ठी के तत्व को जरूरी माना है। आंतरिक स्पर्श से सुगंधित उनके निबंध का गद्य ऐसा गोष्ठी तत्व प्रकट करता है। कविताओं में बहे बिना उनके निबंध, लेखक और भावुक के बीच संवेदना का सेतु किस तरह बांधता है, यह उनकी 'वार्तालाप' जैसी रचना से पता चलता है।

6. **सुंदरम्—त्रिभुवनदास पुरुषोत्तमदास लुहार** (1908-1991)
कविता, कहानी, निबंध, समीक्षा, संशोधन-अनुवाद, गद्य-पद्य के अनेक स्वरूपों में उनका स्मरणीय योगदान रहा है। एक श्रेष्ठ कवि होने के साथ वह उतने ही श्रेष्ठ गद्यकार रहे हैं। उनके 'दक्षिणायन' तथा 'चिदंबरा' जैसे निबंध ग्रंथ से ऐसा प्रतीत होता है। 'मद्रासनी जलचरी' जैसी किसी-किसी रचना में उन्होंने बातचीत की शैलीवाले गद्य का रम्य रूप उपस्थित किया है। इस प्रकार इनकी रचनाएं लालित्यपूर्ण बनी हैं।

7. **सुरेश हरिप्रसाद जोशी** (1921-1986)
आधुनिक संवेदना के प्रथम महत्वपूर्ण सर्जक। कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, निबंधकार, संपादक, अनुवादक—इनका साहित्य-जगत साहित्य की विविध विधाओं में अपनी पहचान के साथ है। इस प्रयोगशील सर्जक को प्रमुख रूप से निबंधकार कहना पड़े, ऐसी रचनाएं उन्होंने निबंध-साहित्य को दी हैं। 'जनान्तिके' में निबंध के ललित रूप को उन्होंने दिशाएं दी हैं। काकासाहब के बाद ललित निबंध के क्षेत्र में स्थाई महत्व रखने वाले दूसरे निबंधकार ये हैं। ललित निबंध के

जनान्तिक रूप का भी इन्होंने गहरा परिचय कराया। 'इदम सर्वम्', 'अहोबत्किम आश्चर्यम्', 'इति मे मति', 'रम्याणि वीक्ष्य' आदि उनके निबंध संग्रह हैं। प्रकृति, शैशव, अरण्याभिमुखता आदि को उन्होंने 'गंध : अभिज्ञान की मुद्रिका' शीर्षक रचना में आमोद-प्रमोद की भाषा के सहारे संवेद्य रूप प्रदान किया है।

8. **दिगीश नानुभाई मेहता (1934)**

निबंधकार, उपन्यासकार और समीक्षक। 'आपणों घडीक संग' प्रयोगशील लघु उपन्यास के लेखक ने 'दूरना ए सूर' द्वारा सातवें दशक के अंत में, ललित निबंध विधा में नई हवा का अनुभव कराया। मनुष्य को, मनुष्य के मन विवर्तों को वे चित्रात्मक तथा लाघवभरे गद्य में प्रत्यक्ष कर देते हैं। उनके विलक्षण गद्य पर अंग्रेजी गद्य तथा उसकी भाव-भंगिमाओं का प्रभाव देखा जा सकता है। 'दूरना ए सूर' में देश, बचपन आदि के स्वर सूक्ष्म रूप से स्पष्ट हुए हैं।

9. **भोलाभाई शंकरभाई पटेल (1934)**

निबंधकार, समीक्षक, अनुवादक, मुख्यरूप से यात्रा-निबंध लेखक के रूप में विख्यात भोलाभाई ने 'विदिशा', 'पूर्वापर', 'राधे तारा डुंगरिया पर', 'देवों की घाटी', 'देवात्मा हिमालय' आदि संग्रहों द्वारा काकासाहब के बाद साहित्य यात्रा को समृद्ध करने वाले प्रमुख लेखक की ख्याति अर्जित की है। उनका सुकुमार और तत्सम-प्रधान गद्य, स्थान-काल और वस्तु को नए सौंदर्य बिंदुओं से बांध देता है। 'तेषां दिक्षु' ललित निबंध में देश-प्रेम का उत्कट रूप प्रकट हुआ है।

10. **चंद्रकांत त्रिकमलाल शेठ (1938)**

कविता, समीक्षा, शैशवकथा, हास्य आदि को समर्पित चंद्रकांत ने 'नंदसामवेदी' उपनाम से अप्रचलित शैली में ललित निबंध के क्षेत्र में स्मरणीय साहित्य दिया है। 'नंदसामवेदी' संग्रह में नंद के कल्पित पात्र के सहारे उन्होंने स्वयं को तथा मनुष्य को अनेक कोणों से देखने का प्रयत्न किया है। उनकी रचना-रीति कुछ परंपरा बनाती दिखती है। 'भाईराम' जैसी लाक्षणिक निबंधकृति में मनुष्य की परंपरा कलामय रूप से अंकित हुई है।

11. **वाडीलाल जयचंद डगली (1926-1985)**

देश के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डगली निबंधकार, पत्रकार और कवि भी थे। आठवें दशक के ललित निबंध साहित्य में 'शियाला नी सवार नो तड़को' संग्रह

के द्वारा उन्होंने उल्लेखनीय स्थान प्राप्त किया है। विचार और विहार को परस्पर गूंथते हुए व्यक्तित्व के स्पर्श से उन्होंने कई श्रेष्ठ रचनाएं दीं।

12. **भगवतीकुमार हरगोविंद शर्मा** (1934)

प्रमुख रूप से उपन्यासकार कहानी, कविता, पत्रकारिता और निबंध क्षेत्र में भी उनकी पैठ रही है। पत्रकारिता के द्वारा उन्होंने 'शब्दातीत' तथा 'बिसतंतु' जैसे ललित निबंधों के संग्रह आठवें-नवें दशक में दिए हैं। संवेदन को संवेद्य आकार देने जैसा गद्य बल उनमें है। लेकिन अपेक्षित ख्याति 'नदी-विच्छेद' जैसी किसी-किसी रचना से ही मिलती है।

13. **हरींद्र जयंतीलाल दवे** (1930-1955)

पत्रकारिता के साथ-साथ कविता, उपन्यास, निबंध, अनुवाद, संपादन-समीक्षा आदि में भी हरींद्र की गति रही है। 'नीरव संवाद', 'वेरातु स्वप्न', 'घूंटातु सत्य' और 'शब्द-भीतर सुधी' उनके निबंधों के संग्रह हैं। उनके गद्य में काव्य की सुगंध है। सत्य और विचार को वह इस तरह शब्दबद्ध करते हैं कि वह स्पर्श कर ले। 'वसंत—मन की अवस्था' में हुआ है, वैसे ऋतु और मनःलीलाओं को एक-दूसरे में मिलाकर प्रेम कथा का कला स्वरूप भी वे खड़ा करते दिखते हैं।

14. **गुणवंत भूषणलाल शाह** (1937)

शिक्षाशास्त्री तथा स्तंभ लेखक। कविता, उपन्यास, जीवनी आदि विषयों पर उन्होंने कलम चलाई है। पत्रकारिता से भी जुड़े रहे। नौवें दशक में उनके कई निबंध संग्रह आए। 'कार्डियोग्राम', 'रण तो लीलांछम', 'वगड़ाने तरस टहुकानी', 'विचारोना वृंदावनमां' आदि संग्रहों में कहीं आकर्षक विचार-अंश तो कहीं उसकी रोचक अभिव्यक्ति भाव आकर्षित करते हैं। 'वृक्षनी मातृभाषा मौन' में भी ऐसी विशेषताएं मौजूद हैं।

15. **सुरेश पुरुषोत्तमदास दलाल** (1932)

कवि, निबंधकार, बाल साहित्यकार, संपादक, अनुवादक। 'जन्मभूमि' में स्तंभ लेखन उनके अनेक निबंध संग्रहों का निमित्त बना। पत्रकारिता की भाषिक युक्ति-प्रयुक्तियों के साथ काव्यमय खुमारी भी उनकी रचनाओं में देखने में आती है। 'मुंबई अेटले मुंबई अेटले मुंबई' में मुंबई के लाक्षणिक व्यक्तित्व को उन्होंने उभारा है। लेखक का चांचल्य भी वहां उतना ही प्रकट हुआ है।

16. **ज्योतिष जगन्नाथ जानी** (1928)

आधुनिकता के साथ काम पूरा करने वाले लेखकों में एक। कवि, कहानीकार, उपन्यासकार के साथ निबंधकार के रूप में भी प्रख्यात। नौवें दशक के शुरू में उनका निबंध संग्रह 'शब्दना लैंडस्केप' आया। नूतन विषय और नूतन मुद्रावाले गद्य उनके निबंधों में देखने को मिलते हैं। 'मारी डायरीमां ऊगेली एक सवार' में उनके स्फूर्तिवाले व्यक्तित्व के नानाविध विषय मिलते हैं।

17. **विष्णु त्रिभुवनभाई पंड्या** (1945)

पत्रकारिता से जुड़े विष्णु पंड्या ने निबंध, जीवनी आदि विषयों में खास रूप से काम किया है। 'हथेलीनु आकाश' और 'शाहमृग तथा देवहुमा' जैसे निबंध संग्रहों में लेखक ने बुद्धि और हृदय का समन्वय साधकर अपने वाचन-मनन तथा स्मृति-साहचर्य को घोंटा है। आवेग उनकी काफी रचनाओं के लिए बल बना रहता है। 'अनुरागनी लिपि' प्रवास के उल्लेखों से परिपूर्ण है फिर भी प्रवास वर्णन नहीं, बल्कि मनोप्रवास कहने लायक लालित्यपूर्ण रचना है।

18. **अनिल रमानाथ जोशी** (1940)

गुजराती गीत की दिशा बदल देने वाले इस कवि ने दैनिक पत्रों में स्तंभ-लेखन के साथ निबंध लेखन भी किया है। 'स्टेच्यू' तथा 'पवननी व्यासपीठ पर' जैसे दो संग्रह लेकर निबंध के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले इस लेखक ने नौवें दशक में काव्यांश वाली अंगततत्व से महकती 'बारी ने पड़दानुं कफन', 'स्टेच्यू रमवानी मजा' जैसी रसपूर्ण रचनाएं दी हैं।

19. **जयंत हिम्मतलाल पाठक** (1920)

कवि, समीक्षक, संस्मरण लेखक और निबंधकार। इनकी कविता और आत्मकथात्मक गद्यकृति—दोनों ही में, देश, देश की प्रकृति, उसकी महिमा और उसके विच्छेद तरह-तरह की अभिव्यक्ति पाते रहते हैं। 'स्वप्नतरु' ऐसी ही एक उत्कृष्ट रचना है।

20. **बकुल पद्मणिशंकर त्रिपाठी** (1928)

इनकी महत्वपूर्ण देन हास्य निबंध के क्षेत्र में रही है। लेकिन अपवाद रूप में 'वैकुंठ नथी जावुं' जैसे ललित निबंध संग्रह में वैयक्तिक स्पर्श का कदम-कदम पर अनुभव होता है। 'वैकुंठ नथी जावुं' या 'होली' शीर्षक रचनाएं विशिष्ट संवेदनों को आबद्ध करती कृतियां हैं।

21. **प्रवीण शनिलाल दरजी** (1944)

कविता, समीक्षा, निबंध, अनुवाद, संपादन आदि क्षेत्रों में प्रख्यात। नौवें तथा दसवें दशक के ललित निबंध साहित्य में 'लीलांपर्ण', 'दर्भाकुर', 'घासना फूल' और 'वेणुख' संग्रहों के द्वारा नई मुद्रा उभारते, ताजगीभरे गद्यवाली निबंधकृतियां लेकर वे आते हैं। विषय वैविध्य, भाषा-विधान और अंदर का बल 'मैं' उनकी रचनाओं को कैसे परिणाम दे रहा है; वह 'ओरडो', 'ईश्वर', 'तमे, हुं—आपणे बधा ज' जैसी कृतियां पढ़ने से स्पष्ट होता है।

22. **मणिलाल हरिदास पटेल** (1949)

कवि, निबंधकार, समीक्षक तथा उपन्यासकार। 'अरण्योमां आकाश ढोलाय छे', 'कोई साद पाडे छे' और 'माटीवटो' जैसे निबंध संग्रहों द्वारा निबंध क्षेत्र में इनका प्रवेश हुआ। कहीं प्रकृति तो कहीं अंगत अधिकार के साथ आगे बढ़ती उनकी कितनी ही रचनाएं काव्य के निकट सरकती जाती मालूम होती हैं। 'अरण्यनी आरपार' ऐसी ही रसप्रद कृति है।

23. **किशोरसिंह हेंदुजी सोलंकी** (1949)

कवि, उपन्यासकार, समीक्षक तथा निबंधकार। 'भीनी माटीनी महेक' संगह की रचनाओं में निबंधकार ने देश और देश के प्रसंगों को, यहां की ऋतुओं, त्योहारों, मानवीयताओं को याद कर अपनी विशेष शैली को पुनर्जीवित किया है। 'कच्चा रास्ता' जैसी रचना जनपद के ऐसे ही एक अंश को तादृश करती है।

24. **प्रीति सेनगुप्ता** (1944)

कवयित्री तथा यात्रालेखिका। 'पूर्वा', 'दिग्दिगंत', 'सूरज संगे दक्षिण पंथे' जैसे संग्रहों में यात्रा की शक्यताओं से भरी-भरी छाप उभारने वाली यह लेखिका 'ते आ शहेर' जैसी किसी रचना में ललित निबंध के निकट पहुंच जाती है। रचना प्रासादिक बन जाती है।

25. **मफत जीवराम ओझा** (1944)

कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, समीक्षक, निबंधकार, संपादक। 'माटीमां खीलेलां मेघधनुष' शीर्षक निबंध संग्रह मुख्य रूप से पत्रकारिता की देन होने पर भी 'गरमालो अने गुलमोहर' जैसी कुछ खास रचनाओं में भी उसका असर दिखाई पड़ता है।

26. **नवनिधलाल जयंतीराय शुक्ल** (1936)

उपन्यासकार और निबंधकार। 'च्यूइंगम' निबंध संग्रह में उनके व्यक्तित्व के प्रक्षेप वाली कितनी ही प्रकृतियां हैं। 'च्यूइंगम' जैसी कृति में देश, देश का घर और उसके प्रति लगाव का चित्र उभरा है।

27. **कुंदनिका नरोत्तमदास कापड़िया** (1927)

प्रमुख रूप से उपन्यासकार, कहानीकार और निबंधकार। 'चंद्र-तारा-वृक्ष-बादल' जैसे निबंध संग्रह में लेखिका का 'मैं' प्रकृति के आधार पर अपूर्व समृद्धि प्रकट करता है। 'ए कोनु वाद्य हशे?' में हवा जैसे प्राकृतिक तत्व के साथ, शीर्षक के प्रश्नार्थ में संकेत हुआ है। वैसे कुछ गूढ़-रहस्य तत्व भी सहज रूप से अभिव्यक्त हुआ है।

28. **पन्ना रमेशभाई अध्वर्यु** (1933)

निबंधकार। 'खोभो भरी ने उजास' द्वारा निबंध क्षेत्र में पदार्पण। प्रमुख रूप से प्रकृति के आसपास उनकी संवेदनाएं गुंथती मालूम पड़ती हैं। 'ळ कोई नो नहि' उनकी लाक्षणिक कृति है।

29. **वीनेश दिनकरराय अंताणी** (1946)

उपन्यासकार, कहानीकार तथा निबंधकार। दैनिक पत्रों में स्तंभ लेखन द्वारा मानव-मन को उकेरते-उकेरते निबंध के निकट पहुंचे। 'पोतपोतानो वरसाद' निबंध संग्रह में देश की बरसात का विशेष चित्रण सर्जक के शैशव को जगाता है। गद्य को वे अनेक स्तर से संवारना जानते हैं।

□

मुद्रक : ब्यूटी प्रिंट, 10/8020 मुलतानी ढांडा, पहाड़गंज, नई दिल्ली-55